[शिक्षा प्रचार विभाग-यू० पी० द्वारा पुस्तकालयों के लिये स्वीकृत]

प्रथम संस्करण—१९४५

द्वितीय संस्करण—१९४६

मूल्य दो रुपया

Printed & Published at the All. Block works Ltd.,
Zero Road, Allahabad.

यह संस्करण —

'अन्तिम बेला' का यह दूसरा संस्करण पाठकों के सामने है। इस संस्करण में नाममात्र का हेरफेर हुआ है। कथा में कुछ भी अन्तर नहीं आया है। पुरानी तस्वीर की गर्द झाड़ने जैसी ही सफ़ाई की गई है। आशा है पाठक इसका भी पहले जैसे उत्साह से ही स्वागत करेंगे।

—लेखक

नारी की ज्वाला को,

जिसके ज्योति-स्पर्श से मैं परिचित हूँ।

अन्तिम-बेला
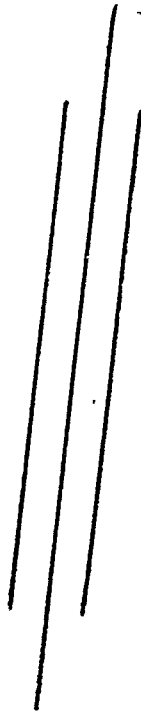
एक

दूर तक हरे-हरे खेत दिखाई पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ने आकाश के सूर्य से गिरते हुए सोने को समेटने के लिये हरी चादर बिछा दी हो। और यह सोना भी तो इस हरियाली के ऊपर पिघल कर बरस पड़ा है। अभी कुछ दिन पहले ही तो जब प्रातः से संध्या तक रवि की किरणें अपने हाथों में सोना लिए दान करने को पृथ्वी की किसी परी की खोज में भरमाती रहतीं, तो सरसों के यह लहलहाते पौधे उन्हें देख कर काँप उठते। तिरस्कार से एक बार मुँह फेर कर अपनी पत्तियाँ हिला देते। जैसे कह रहे हों—'दुनिया में यह सोना ही तो सारे विनाशों की जड़ है, फिर उसे वे क्यों ग्रहण करें? क्यों जान कर भी वे अपने को इस मोहजाल में फँसा दें?

परन्तु कहते हैं कि स्वर्ण का आकर्षण अमोघ होता है। अन्त में सरसों के पौधे किरणों के इस दान का तिरस्कार नहीं ही कर सके। कब तक करते, वह चम-चम करती हुई पीलिमा जैसे इन पर बरस पड़ी।

उन्होंने एक दिन माघ की ठिठुरती, काँपती उषा में परस्पर विचार विनिमय किया कि क्यों न आखिर हम किरणों के इस बहु-

मूल्य दान को स्वीकार कर लें।

कुछ ने प्रौढ़ विचारकों की भाँति अपने सिर हिलाए।

परन्तु निश्चय अन्त में हो ही गया।

उषा के साथ किरणें आईं। आज वे अधिक उदास थीं। धरती की परियों की खोज में उन्होंने सारी दुनिया छान डाली थी। उषा के सिन्दूरी आंचल के कोर से जब किरणें फिसल पड़ीं तो सरसों के इन पौधों ने अपनी आंखें पसार दीं। उनमें याचना की भावना सजीव हो उठी।

अब किरणें मुस्कराईं। उन्होंने मुट्ठी भर-भर कर सोना सरसों के शीश पर बिखेरना शुरू किया। हरे हरे जौ और सरसों के यह खेत पीले हो गए।

मनुष्य आज की दुनिया में स्वर्ण का दास ही तो है, सो जिसने देखा, कहा—सरसों फूल उठी है।

संध्या की काली चादर में जब किरणों ने अपना मुँह छिपा लिया तो सरसों एक बार अपने ऐश्वर्य पर पुलकित हो खिलखिला कर हँस पड़ी। अपनी सुरभि ने उसके वातावरण में एक पुलक की सृष्टि कर दी। पराग के कुछ कण पथ पर बिखर कर लोट गए। जैसे उसकी नसों में मस्ती का स्रोत फूट कर बह रहा हो।

जाती है। दूर कई मील तक हरे भरे खेतों के बीच साँप-सी लोटती यह चली गई है। फिर भी आज तक वह इन दो गाँवों को एक नहीं कर सकी। परन्तु अपनी असफलता पर उसे कभी क्षोभ भी नहीं हुआ।

संध्या गहरी हो रही थी। जुगाई जौ के पौधों के बीच से निकल कर इस पगडण्डी पर आ गया। एक बार उसने अपने दोनों ओर खड़े हरे-हरे पौधों पर बड़े स्नेह के साथ अपनी उँगलियाँ फेरी, फिर हाथ को अधरों तक ले जाकर छू दिया। एक सहज रोमांच से उसका शरीर काँप उठा; एक-एक पौधा जैसे किसी अज्ञात प्रेयसी का रूप धर उनकी आंखों के सामने खड़ा हो गया। हवा का झोंका सनन् करके उड़ गया तो लगा जैसे किसी प्रेयसी का आंचल प्रेम झोंके से फड़फड़ा उठा हो। फिर उसके अधरों पर मधुर मुस्कान की रेखा खिंच गई। जीवन भी तो एक पगडण्डी है, धरती पर आते ही मनुष्य उस पर चलने लगता है! फिर, यौवन की सीमा पर पहुँच कर एक बार क्षणभर को रुक कर वह अपने पथ के मोड़ की ओर निहारने लगता है।

जुगाई जीवन के इसी मोड़ पर खड़ा हो सौन्दर्य निहारने, समझने का प्रयत्न कर रहा है। छरहरा बदन, बड़ी-बड़ी आखें, चौड़ा भाल। प्रकृति से उभर कर साकार यौवन ने उसमें प्रवेश किया है। सिर पर घुँघराले बाल हैं। गाँव में शायद इतने बड़े बाल और किसी के न होंगे। बड़े बाल तो शहर के बाबू ही रखते हैं। जुगाई का पिता उसे रोज ही तो समझाता है पर जुगाई उत्तर में केवल मुस्करा देता है। जब वह पैदा हुआ था तभी माँ उसके इन काले घुँघराले बालों को देख कर खिल-सी उठी थी। अब भी तो बहुधा वह प्यार से उसके बालों में वृद्धावस्था की झुर्रियों से पूर्ण अपनी उँगलियाँ डाल उन्हें सुलझाया करती है। इन बालों को जुगाई फिर भला क्यों कटा दे! यौवन भी तो अभी उसके कपोलों पर जी खोल कर उभर नहीं

पाया; एक सघन कालिमा उसके कपोलों पर बिखरने लगी थी।

जुगाई अपने मन के भाव अधरों के अस्फुट स्वर में गुनगुनाता हुआ गांव की ओर चल पड़ा। खेतों के किनारे सरसों की पंक्ति झुक-झुक कर उसका जैसे अभिवादन कर रही थी। और जुगाई था जो अपने यौवन की मदिरा के फेनिल उफान का कम्पन निहार रहा था। सहसा हवा की गति में उन्माद बिखरा। हरे हरे पौधे लहरा कर झुक गए। जुगाई ने आंखें उठा कर नभ की ओर देखा। यह संध्या होने को है। कितनी प्रिय उसे यह सन्ध्या लगा करती है। वह चाहता है कि वह सन्ध्या की समस्त गोधूलि को समेट कर अपने में भर ले, पर क्या वह कभी ऐसा कर सकेगा?

जैसे जुगाई निद्रा से जग गया हो या जैसे उसका कोई मधुर स्वप्न टूट गया हो, वो वह चारों ओर निस्तब्ध नेत्रों से निहार रहा था। अब सन्ध्या हो गई, घर चलना होगा। पर घर जाने को जी नहीं चाहता।

कोई कह न दे इस जुगाई से — भला घर में उसका जी नहीं लगेगा? घर में ऐसा कौन सा आकर्षण है?

खेत को देख कर उसके शान्त विचार-सागर में जैसे किसी ने एक पत्थर फेंक दिया हो। वह सोचने लगा चने के पौधे भी कैसे विचित्र हैं। यौवन के प्रारम्भ में इनकी बाढ़ को जितना ही खोट दिया जाता है, उतना ही उफान ले यह उभर आते हैं। शायद यौवन का यही रहस्य है। सब के यौवन में उसने यही तो देखा है। खिलखिला कर वह एक बार फिर हँस पड़ा।

कहीं निकट से ही झिल्ली चीं-चीं करके चीख रही थी। सहसा वह चुप हो गई। यह झिल्ली इतनी जोर से तो चीखती है। इसकी चीख के आगे भला मेरी आवाज इसे कैसे सुनाई पड़ी होगी। उसने अपने मन में सोचा। पर यह भी भला कोई सोचने की बात है। अब न मालूम उसके मस्तिष्क में क्या होता जा रहा है जो वह यह सब सोचा करता है। कोई उसे यदि इस प्रकार निर्जन में चलते-चलते हँसते देखता तो क्या सोचता।

जैसे यह बात उसे पहले कभी सूझी नहीं सो चौंककर उसने अपने चारों ओर देखा। कहीं कोई भी तो नहीं था जो उसे देख रहा हो। पर जाने क्यों उसे ऐसा लग रहा था मानो कोई उसे देख रहा था। सहसा उसकी दृष्टि दाहिने ओर जहाँ बीच खेत में सांध्य सूर्य की लाल पीली किरणें पड़ रही थीं, वहीं कुछ दिखाई पड़ा। जगाई ठिठक कर रुक गया।

वह क्षणभर देखता रहा. फिर चने के पौधों के बीच से ही होकर वहाँ पहुँच गया। ओह, शायद कोई भूल गया है उसने उठाकर एक बार ध्यान से देखा। हलके बैगनी रंग का दुपट्टा था। अवश्य ही कोई ओढ़ कर आया था और भूल गया। पर किसका ऐसा दुपट्टा! यह खेत तो श्रीकांत मिश्र का है। उसकी लड़की का यह दुपट्टा हो सकता है। पर भला वह यहाँ क्यों आती जो खेत में उसका दुपट्टा भूल जाता। सोचता हुआ दुपट्टा गले में डाल वह घर की ओर चल पड़ा।

दो

आखों में जब राग भर आता है तो एक रंगीन-सी दुनिया हमारे सम्मुख अपना रूप बिखेर देती है। जैसे प्रकृति का उदासीन यौवन भी एक मदिर-सी रागिनी गा उठता है। परन्तु आखिर यह राग मनुष्य के अन्तर में उपजता ही क्यों है? क्यों हृदय किसी को प्यार करने लगता है। प्रश्न है, जो शाश्वत बन कर शायद मानव को यौवन की सीढ़ी पर खड़े होकर छलने का प्रयत्न किया करते हैं और मनुष्य भी इतना अबोध है कि बारबार छला जाकर भी जैसे उसी में भूला रहना चाहता है। यौवन की सुनहरी किरणें जब आती है तो अपने साथ एक दर्द, एक विचित्र टीस सी लेकर आती हैं। आखों की राह यह दर्द जैसे अन्तर में उतर कर एक हूक उत्पन्न करता रहता है। दार्शनिकों ने मानव के इस राग को परखने के प्रयत्न किए होंगे पर वह उनके लिए अब तक अविश्लेष्य बना रहा। और शायद इसीलिए धर्माचार्यों ने खिजला कर प्रेम को पाप की श्रेणी में फेंक दिया है।

जुगाई उस दिन दुपट्टा अपने कंधे पर रखे जब घर की ओर चल पड़ा तो उसके हृदय में अनेक प्रकार की भावनायें उत्पन्न हो रही थीं। उसे लग रहा था जैसे हृदय के किसी कोने में वर्षों से कुछ संचित हो रहा था और सहसा वह फूट कर उसके समस्त जीवन को आच्छादित कर देना चाहता है। कई बार उसने अपने मस्तक पर

बन गई रेखाओं को हथेली से समेटते हुए अपने सिर के इस भाग को सन्ध्या के मदिर पवन में बहा देना चाहा, पर वह ऐसा कर नहीं सका। वह सोच रहा था किसी अज्ञात के प्रति। आखिर उसे इतना आकर्षण सा आज क्यों प्रतीत हो रहा है? क्यों नहीं वह उसकी चिन्ता को भूल पाता? आखिर यह भी कोई बात है। उसके अधर हिले एक पतली-सी रेखा बनी और मिटी। कंधे पर रखे दुपट्टे को उसने हाथ में ले लिया और हवा में लहरा कर एक बार हँस पड़ा। जिसका होगा शायद वह आज घर पर डाँट सहती होगी।

फिर उसने सोचा—यह बुरा है। उसे सम्वेदना प्रकट करनी चाहिए। यह भला कौन सी बात है जो वह हँस पड़ा है। लगा, जैसे उसके हृदय में कुछ-दर्द सा हो रहा हो। दुपट्टे को उसने फिर लपेट लिया और कंधे पर रख पग उठाने का उपक्रम-सा करने लगा।

गोधूलि में आकाश से धुँआ बरसने लगता है। उसने लोगों को कहते सुना है कि गांव भर का धुँआ उठ कर आकाश में छाया रहता है। तो क्या संध्या को वही धुँआ गाँव पर बैठने भी लगता है? जैसे गाँव के दिन भर के कठिन परिश्रम के थकान की एक परत उस पर जम जाती है। जुगाई ने कई बार आँखे मलकर देखा, जैसे अपने मार्ग को तनिक स्पष्ट कर देखने का प्रयत्न कर रहा हो। चारों ओर शान्ति बरस रही थी। विस्तृत प्रकृति जैसे निर्जीव होती जा रही थी। यह छोटा सा चन्द घरों का गाँव उसके जीवन के चन्द स्पन्दन लेकर अब तक जैसे धक-धक कर रहा हो। जुगाई के मन में ये सब विचार जाने कहाँ से आ रहे थे। कभी तो उसके मस्तिष्क में इस तरह के विचार नहीं आए, फिर आज सब उसे क्यों घेर रहे हैं। रास्ते में दोनों ओर ऊची ऊँची खाई हैं। जो दूर तक चली गई हैं। जुगाई को लगा कि वह जैसे शून्य में ही अपने को रखना चाहता है—सोच कर वह वहीं पर बैठ गया। पीछे गन्ने का खेत था। पत्तियाँ एक दूसरे का स्पर्श कर एक अजीब-सी डरावनी आवाज कर

वह बोला।—"यार नवनीत, आज मुझे किसी का दुपट्टा पड़ा मिल गया।"

"दुपट्टा!" नवनीत ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ जी, यह देखो न।" कह कर जुगाई ने दुपट्टा कंधे पर से उतार कर नवनीत के हाथों में दे दिया।

नवनीत ने उसे उलट-पुलट कर देखा फिर मुस्करा कर कहा—"चलो अच्छी बात हुई।"

"क्या?"

"अब थोड़ी बात और रह गई है?"

"साफ कह न!" जुगाई ने प्यार से झिड़क दिया।

"यही कि दुपट्टा तो मिल ही गया, अब दुपट्टा वाली भर मिलने को रह गई हैं।" नवनीत ने हँसते हुए उत्तर दिया।

जुगाई जोर से हँस पड़ा। नवनीत ने दुपट्टा छीनना चाहा।

"नहीं जिसकी बहू पहले आए उसी को यह दुपट्टा मिलेगा।"

"सब को खबर कर दे तो शायद जल्दी आ जाय।" नवनीत ने मुस्कुरा कर उत्तर दिया।

जुगाई मुस्कराता रहा था। जैसे अपनी स्थित रेखाओं के द्वारा वह अपने कल्पना चित्रों को सजीव करने का प्रयत्न कर रहा हो। बोला—"यह किसका हो सकता है?"

"क्यों लौटाने का विचार है क्या?"

"हाँ, यदि इसका कोई मालिक हो तो ले सकता है।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"तो मालिक तुम्हारे पास दौड़ा आए?"

"नहीं तो मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है कि मैं ही उसे ढूढ़ता फिरूँ।" दोनों खिलखिला कर हँस पड़े।

"ले मुँह मीठा कर।" जुगाई ने आधा गन्ना तोड़ कर नवनीत के हाथों में पकड़ा दिया।

गन्ना चूसते हुए दोनों गाँव की ओर बढ़ रहे थे। जुगाई को लगा जैसे उसके माथे का भार कुछ हलका हो गया है। उसे कुछ राहत-सी मिल रही थी।

यौवन की दो उठती लहरें, जैसे अंधकार को चीर कर आगे बढ़ रही हों। उनके चूसे हुए गन्ने के टुकड़े पगडण्डी पर बिखर रहे थे जैसे वे उनका चिह्न बनाते जा रहे थे।

और सच ही तो है यौवन में मनुष्य अपने पथ पर बराबर बढ़ता रहता है। पथ के किनारे मिली मधुरिमा को वह एक भार-सा उठा कर अपने हृदय से लगा लेता है। फिर जैसे उसे पात-विहीन कर उसके रसपान के लिए वह उतावला हो उठता है। और अन्त में जब वह उसके एक-एक अंश से रस चूस लेता है तो उसे पथ पर फेंक देता है। जीवन में जिसका उपयोग नहीं उसे अपने पास वह रक्खे ही क्यों। यौवन के प्रेम का जैसे यही इतिहास है। परितृप्ति उसकी होती ही नहीं, वह अपने अधरों की पिपासा को चिरन्तन बनाने में ही जैसे पूर्ण यौवन का आनन्द पाता हो।

गाँव की बस्ती की सीमा जहाँ से प्रारम्भ होती है, वहाँ एक बड़ा-सा बरगद का पेड़ है। किसी समय रामकिशुन के बाबा का जमाना बड़ा अच्छा था। गाँव भर में उन्हीं की धूम थी। उन्होंने यह बरगद लगाया था और यह कुँआ भी बनवाया था। कहते हैं ईंट पकाने के लिए जहाँ उन्होंने आँवा लगवाया, आज वहाँ एक तालाब बन गया है जिसका पानी पूरे साल भर नहीं सूखता। धरम का यश ऐसे ही अमर होकर रहता है। पर उसी का वंश जो नष्ट हुआ तो आज देखो—अब इस किसुन के पास खाने को भी कुछ नहीं है, मरम्मत के लिए बाप दादों का घर, खंडहर हुआ जा रहा है और रामकिसुन अपने बच्चों के साथ उसी खंडहर में भूत की भाँति उसका रक्षक बनकर रह रहा है।

उसी पेड़ के नीचे आकर दोनों रुक गए। नवनीत के घर का

रास्ता उधर से ही है। उसने कहा—"अच्छा जुगाई मैं तो चला। देर होने से बप्पा बिगड़ने लगते हैं। बैलों को चारा पानी देना है और जब से यह भैंस ले ली है जान की और भी आफत बढ़ गई है!"

"तो दूध भी तो पीते होगे!" जुगाई ने कहा। फिर अपने रास्ते मुड़ वह गया। नवनीत जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाता हुआ घर की ओर बढ़ गया और जुगाई अपने मन पर एक अज्ञात-सा भार-वातावरण से समेट कर लादता हुआ धीरे-धीरे चला जा रहा था।

तीन

खपड़ैल के छोटे-छोटे छिद्रों से सूर्य की किरणों का सुनहला प्रकाश कमरे के भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा था। प्रकाश की ये किरणें धूल के छोटे-छोटे कणों को अपने में निहित किए हुए थीं। सांवले रंग की पलकों के भीतर ये पुतलियाँ इस प्रकार बंद थीं जैसे कोई भौंरा स्वेत कमल की पंखुरियों के बीच बंद हो गया हो। पर ये चंचल पुतलियाँ, जो एक क्षण भी स्थिर रहना नहीं जानती, लहरों के बीच झलकते तारों की भाँति ही जो सदा स्पंदित रहती हैं, इस समय कैसे शांत हो सकी होंगी ? काली-काली अलकें कुछ मैली-सी चादर पर फैली हुई थी, मानो साँप के पतले कृशकाय बच्चे अपनी माँ के आसपास खेल रहे हैं।

प्रातः रवि की किरणों ने कमरे में प्रवेश किया, उन्हें आया जान कर भी कोई आँख मूँदे पड़ा रहे, यह तो शायद किरणों को सह्य नहीं। सो उन्होंने चिन्ता को गुदगुदाना शुरू किया। इससे कपोलों पर वे नाच उठीं। अलकों में उन्होंने सुनहले तार बिनने प्रारम्भ किए, परन्तु चिन्ता की आखें उसी प्रकार सुप्त बनी रहीं। यौवन की अलस्य निद्रा को जगाने के लिये प्रातः किरणों की मृद गुदगुदाहट शायद काफी नहीं होती। थक कर आगे बढ़ने का वे उपक्रम कर ही रही थीं कि चिन्ता ने करवट ली। सुषुप्ति की अँगड़ाई ने एक

चार किरणों को हिला दिया, वे उसके अधरों पर खेल गईं।

तभी बाहर से माँ ने पुकारा—"हाय! चिन्ता, इतना दिन चढ़ आया और तू अब तक सो ही रही है।"

जब जाग कर भी कोई काम न हो तो आदमी दिल भर कर सो ही क्यों न ले?

चिन्ता को माँ की बात नहीं सुनाई पड़ी। शायद उसके सुसुप्ति सागर में एक क्षीण लहर उठी और तट पर भी न पहुँच पाई थी कि विलीन हो गई।

माँ ने आकर कोठे का दरवाजा खोल दिया। दिन का प्रकाश कमरे भर में नाचने लगा। माँ ने पुकारा—"चिन्ता! ऐसे में भी भला कोई सो सकता है?"

चिन्ता ने करवट ली। एक बार आँखें आधी खोल कर उसने माँ की ओर देखा फिर बन्द कर लिया। माँ ने फिर कहा—"चिन्ता, उठ तो, देख सूरज निकल आया और तू सोती ही है।"

"माँ तुमने तो सोने में भी आफत कर लिया है।" चिन्ता ने कहा और रजाई फिर अपने सिर पर खींच लिया।

माँ चिन्ता के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित हैं। बचपन में उसे नींद नहीं आती थी। जग जग कर वह माँ को बड़ा तंग किया करती थी। जब सब कामों से खाली होकर माँ सोने के लिए लेटती तो चिन्ता उठकर बैठ जाती। माँ के आने का आसरा वह अकेली पड़ी देखा करती थी। फिर आधी रात तक माँ उसे सो जाने को तरह तरह की कहानियाँ सुनाती रहतीं। पर चिन्ता की आँखो में नींद न आती।

—"हाँ, तो माँ राजा के उस रानी का क्या हुआ?"

"तब रानी भी सो गई।" माँ उत्तर देती।

"सो गई? नहीं माँ, तुम हमें बहकाती हो। भला रानी भी सोती"

"हाँ, पगली! रानी के और काम ही क्या होता है। दिन भर तो वे सोती ही रहती हैं।" माँ कहतीं।

चिन्ता को तब बड़ा आश्चर्य होता। सभी के सम्बन्ध में उसने जो भी कल्पना की थी उससे तो माँ की कोई भी बात मेल नहीं खाती। उसकी धारणा है कि रानी के पास सब कुछ होता है, बहुत रुपया-पैसा, नौकर-चाकर। उसके बहुत-सी सहेलियाँ होंगी। खेलने को खिलौने होंगे। फिर खिलौने खेलना छोड़ वह दिन रात सोती क्यों होगी!

शाम हो जाती है तो माँ चिन्ता को बाहर नहीं रहने देतीं। राधा भी तो अपने घर भाग जाती है। फिर विवश होकर चिन्ता को सोने की बात सोचनी पड़ती है। यदि राधा अपनी गुड़िआ ले कर घर न भाग जाया करे, तो वे दिन रात खेलती ही रहें। उसका गुड्डा भी तो कभी नहीं सोता। सो माँ को वह बहुधा कहती।—"माँ रानी सोती क्यों रहती हैं? क्या उनके पास खिलौने नहीं हैं, या उनके साथ कोई खेलता ही नहीं।"

माँ चिन्ता की बातों से खीझ उठती। दिन भर उसे काम करते बीतता था और फिर सोते समय चिन्ता अपने तमाम सवाल ले कर बैठ जाती। माँ खीझकर कहतीं—"चिन्ता तुझे तो नींद ही जैसे नहीं आती। रात सोने के लिए बनी है। बात करने के लिए नहीं। रात को बहुत जागने से अच्छा नहीं होता।"

"पर माँ, रानी तो दिन रात सोया करती हैं न!" चिन्ता पूछती।

"हाँ रे दिन रात! अब सो नहीं तो मारूँगी। बहुत हो चुका।" माँ डाँट कर कहती और चिन्ता भी आखें मूँद कर सोने का बहाना करके करवट ले लेती थी। माँ थपकियाँ देती रहतीं। और फिर उसके हाथ धीरे-धीरे शिथिल हो जाते। पर चिन्ता को नींद नहीं ही आती। पता नहीं कब तक यों ही अँधेरे में सपना देखा करती।

परन्तु यौवन के प्रान्त में प्रवेश करते ही उसने यह अनुभव किया कि वह रानी है।

हाँ रानी! रानी के स्वाभाविक चिह्न उससे मिलने लगे थे। नींद तो जैसे रात दिन उसकी पलकों में भरी रहती थी। माँ सवेरे सबसे पहले उठतीं। चिन्ता को देर तक सोती देख कहतीं—"इतनी देर तक सोती है, जहाँ जायगी लोग क्या कहेंगे!"

"माँ तुझे तो लगा रहता है कि किसी तरह हमें तू घर से बाहर कर दे।" चिन्ता बिगड़ जाती।

इस पर माँ खूब जोर से हँसती और चिन्ता को खींच कर अपने छाती से लगा लेतीं। प्रेम में विह्वल होकर कहतीं—"नहीं पगली, अपनी चिन्ता को मैं अपने से दूर थोड़े ही होने दूँगी। तुझे अपने से लगाकर ही सदा रखूँगी रे!"

माँ ने जब देखा कि चिन्ता नहीं उठ रही है तो वे उस दिन जगाने के लिए उसके कमरे में आईं। चारपाई पर ही वे बैठ गईं और रजाई हटा कर पूछा—"चिन्ता उठ गई।"

चिन्ता अब तक जाग उठी थी। पर माँ को तनिक तंग करने के विचार से वह चुप रही। माँ ने फिर कहा—"उठ रे चिन्ता, बड़ी देर हुई।"

फिर जब कोई उत्तर न मिला तो चिन्ता की दोनों बाहें पकड़ कर माँ ने उसे हिलाया। खिलखिला कर चिन्ता हँस पड़ी। माँ को यह बुरा लगा। उसके हाथ छोड़कर वह बोलीं—जाने तेरा यह क्या स्वभाव हो गया है, कि दिन चढ़े सोती रहती है, जागती है तो भी खाट छोड़ने का नाम नहीं लेती! दिन-रात सोते रहना कोई अच्छी बात नहीं है?"

"पर माँ जब तुम मुझे कहानियाँ सुनाया करती थी तब तो कहती थीं कि रानी को सोने के सिवा दिन रात और कोई काम ही नहीं होता।" चिन्ता कहती और हँसने लगती।

"अभी भी तू उतनी ही बड़ी थोड़े ही है।"

"अब बड़ी हो गई हूं तो क्या। मैं जब छोटी थी तब बहुत जागा करती थी और इसलिए तब मैं रानी नहीं थी। अब मुझे नींद बहुत आती है। अब तो मैं रानी हो गई हूं न!'

माँ को हँसी आ जाती। वह सोचती, चिन्ता हुई तो इतनी बड़ी पर लड़कपन उसका अभी नहीं गया। जब माँ उठकर चली गईं तो होंठों पर मधुर मुस्कान का भार लिए चिन्ता भी उठी। कोठे से बाहर होती माँ को उसने एक बार ममता भरी दृष्टि से निहारा। माँ दालान पार कर के आँगन में पहुँची। चिन्ता को लग रहा था कि माँ उसे कितना अधिक प्यार करती हैं। माँ को उसकी कितनी फिक्र रहती है! उसने कभी किसी काम को चिन्ता से नहीं कहा। उसकी आखें एक बार चमक उठीं। उसमें एक अनोखी चमक व्याप्त हो गई।

माँ वहाँ से आकर रसोई घर के दरवाजे पर पहुँची तो उसे लगा जैसे रसोईघर में बिल्ली कुछ खड़-खड़ कर रही है। भीतर पहुँची तो देखा, बिल्ली ने सचमुच कल रात का रखा दूध जूठा कर दिया है। माँ इस बिल्ली से भी बड़ी परेशान हैं। कितनी ही बार नौकर ने कहा—"माँ जी, कहो तो एक दिन इसे कमरे में बंद कर दूँ। दो-तीन दिन भूखी रहेगी फिर इस घर में कभी पाँव भी न रक्खेगी। रोज ही तो यह किसी न किसी चीज का नुकसान कर ही देती है।

पर माँ इसका कुछ कर नहीं सकती। कारण चिन्ता को इस बिल्ली से बड़ा स्नेह है। जब वह छोटी थी तभी एक दिन चिन्ता उसे जाने कहाँ से उठा लाई थी। शायद गाँव ही में कहीं किसी के घर बिल्ली ने बच्चे दिए थे। परेशान होकर उसने इसे घर के बाहर फेंक दिया था। गाँव के छोटे-छोटे बच्चे इसके पीछे पड़ गए थे। पानी और कीचड़ से वह लथपथ हो रही थी। चिन्ता ने जब उसे देखा तो उसमें बड़ी करुणा उपजी। बस वह उसे पकड़ ही तो लाई। घर लाकर उसने उसे नहलाया धुलाया, फिर उसी दम माँ से दूध लाकर

उसे पिलाया; फिर धूप में जब उसके रोएँ सूख गए तो वह बड़ी सुन्दर लगने लगी।

तब से वह बिल्ली घर की प्राणी-सी बन गई है। कई बार माँ ने चाहा कि वह बिल्ली घर छोड़ कर कहीं चली जाय पर वह जा नहीं सकी। कारण चिन्ता यह नहीं चाहती थी। और ये जानवर भी तो हैं, जो इच्छाओं को बहुत ही जल्दी पहचान लेते हैं।

माँ को देखते ही मान बिल्ली झट कमरे से भाग गई। क्रोध में भर कर माँ ने पुकारा—"चिन्ता! देख अपनी लाड़ली बिल्ली को, शाम का सारा का सारा दूध इस निगोड़ी ने जूठा कर दिया है। मैं तो तुम दोनों से ही परेशान हो गई हूँ।"

बड़बड़ाती हुई माँ आँगन में आ गईं। माँ की बातें सुनकर हँसती हुई चिन्ता भी आँगन में आ गई और पूछा—"क्या हुआ माँ?"

"यही कि तेरी बिल्ली ने सारा दूध जूठा कर दिया।"

"तो क्या हुआ माँ!" एक दिन का दूध उसे ही पी लेने दो। कौन हमारे यहाँ दूध की कमी है। चिन्ता ने कहा।"

"हाँ, तेरे यहाँ दूध की क्या कमी है। तो क्या सारा दूध बिल्ली के ही लिए हुआ था। बड़ी आई है!" माँ का गुस्सा बढ़ गया।

इस पर चिन्ता खिलखिला कर हँस पड़ी। बिल्ली खपड़ैल पर बैठी अपनी जीभ से अपने होंठ अब भी चाट रही थी। शायद दूध का बचा-खुचा स्वाद भी वह ले लेना चाहती थी। चिन्ता ने बिल्ली की ओर देखा और गद्‌गद्‌ हो कर बोली—"अब वहाँ क्या बैठी है? आखिर दूध तो खराब हो ही गया। अब तो सब तू ही पियेगी। आ न नानी, तेरे ही भाग्य का यह.......।"

माँ बीच ही में फिर गरम हो गईं। चिन्ता के इन 'नानी' शब्द ने गुस्से में छेड़ने का कार्य किया। माँ बोली-"हाँ चुड़ैल, वह तेरी नानी है? मेरी माई, न?" चिन्ता इस पर और जोर से हँसी।

अबकी बार माँ चुप ही रहीं, कुछ बोलीं नहीं। यह बिल्ली भी

जैसे चिन्ता की सब बात समझती थी। ऊपर से उतर कर वह चिन्ता के निकट आ गई। और उसकी ओर इस प्रकार देखने लगी जैसे कह रही हो—"लाओ न।"

चिन्ता ने कहा—"जा माँ से माँग।"

बिल्ली ने एक बार माँ की ओर देखा पर उसके पास वह जा न सकी।

मुँह फुलाए हुए माँ ने दूध का बर्तन बिल्ली के आगे लाकर रख दिया। चिन्ता ने समझा उसकी विजय हुई। ऊँची साँस लेकर वह मुस्कुराती हुई पीछे वाले खण्ड की ओर चली गई।

जाते जाते देखा तो माँ ने पुकार कर कहा—"देख जल्दी आना मुझे अभी बहुत काम है।"

"अच्छा।" कह कर चिन्ता चली गई।

चिन्ता के पिता गाँव के जमींदार हैं। अब जमींदारी में शायद पहले-का सा रस नहीं रहा। आमदनी भी उनकी अब कम हो गई है और खर्च पहले से बढ़ा ही है, घटने की कौन कहे! यद्यपि घर में प्राणी कम ही हैं। आप हैं, पत्नी है सविता और यह चिन्ता। यह मकान जिसमें वे रहते हैं बाप दादों के समय का ही है। इसके मरम्मत भर का ही भार शायद जगराज बाबू पर उनके पिता छोड़ गए हैं। चिन्ता को एक भाई और है नाम है, सुधीर। चिन्ता से वह दो साल छोटा है।

बचपन से ही वह मामा के साथ रहा करता है। सविता के भाई भी एक बहुत बड़े जमींदार हैं। शहर में वे एक अच्छे सरकारी पद पर हैं। जब सविता के पिता की मृत्यु हुई थी तब वह केवल तीन वर्ष की थी। जब सात वर्ष की हुई तब माँ मर गई। सो इन्हीं शहरवाले दादा को वह पिता मानती आई है। उसे दादा-दम्पति का स्नेह भी बहुत मिला है। इन दादा के कोई सन्तान न थी। जब चिन्ता का यह छोटा भाई हुआ, तब दादा ने सविता से कहा था—"सविता, यह लड़का मुझे दे दे। यानी मैं इसे लूँगा नहीं, बल्कि यह तो तू समझती ही है

कि हमारे सूने घर में भी एक दीपक का रहना आवश्यक है।"

सविता दादा के इस याचना को अस्वीकार न कर सकी। आखिर दादा कोई दूसरे तो हैं नहीं। सुधीर यहाँ रहे या वहाँ, बात एक ही है। सुधीर का नाम भी मामा ने ही रक्खा था; यद्यपि चिन्ता के पिता को यह नाम बिल्कुल पसन्द नहीं है। सविता ने सोचा—सुधीर को पढ़ाना-लिखाना भी तो है, अभी नहीं तो छः सात साल बाद तो उसे दादा के पास शहर पढ़ने के लिए रहना ही होगा। सो उसने सुधीर को अपने दादा को ही सौंप दिया।

शायद भगवान, मनुष्य को पूर्व जन्म के पुण्य के फल-स्वरूप ही संतान देते हैं। सुधीर को जब सविता ने अपने दादा को सौंप दिया तो शायद भगवान को सविता का यह दान नहीं जँचा। उन्होंने उसकी पुत्र की कामना को फिर न पूर्ण किया। सविता ने अपना समस्त प्यार चिन्ता को ही सौंप दिया—उसकी आखों के सम्मुख रह चिन्ता ने माँ के अन्तर में जो स्थान प्राप्त कर लिया वह मामा के पास रह कर सुधीर नहीं प्राप्त कर सका। पिता को भी चिन्ता के प्रति विशेष मोह है। पत्नी के निर्णय पर उन्होंने कभी खेद नहीं प्रकट किया और इसलिए चिन्ता को उन्होंने कभी सुधीर से कम समझा हो-ऐसा भी नहीं। माँ और पिता का यह एक छत्र स्नेह पा चिन्ता अधिक लाड़ली हो गई है। उसने जीवन में जो चाहा, प्राप्त किया। अभाव की इच्छा पूर्ति उसे कभी प्रतीत नहीं हुई।

माँ ने जब कहा तो वह बिल्ली की पीठ थपथपा कर दूसरी ओर चली गई। माँ चिन्ता को जाते हुए देखती रही और वह बिल्ली—जब चिन्ता चली गई तब एक बार उसने सिर उठा कर देखा। उसकी आखों में जैसे भय समा गया था। दूध आधा छोड़कर वह भी चिन्ता के पीछे ही पीछे भाग गई।

यह देख माँ के चेहरे पर मुस्कान की एक आभा स्पष्ट हो उठी, पर माँ दूसरे ही क्षण अपने काम में जुट गई।

बिल्ली को लेकर चिन्ता अपनी कोठरी में चली गई। खिड़की पर उसे बिठा थपथपाते हुए बोली—"तू बड़ी शैतान है रे! क्यों माँ को तंग किया करती है?"

बिल्ली जैसे उसकी बातों को समझने के प्रयत्न में उसकी ओर ताकने लगी।

सहसा कुछ आहट पा बिल्ली कूद कर कमरे के एक कोने की ओर भागी। चिन्ता को इस पर हँसी आ गई।

बिल्ली कमरे के बाहर चली गई तो चिन्ता नहाने-धोने के लिए एक धोती ले कोठरी से बाहर आई।

नहा कर जब वह लौट रही थी तो उसे सहसा ध्यान आया कि कल शाम को बाग से लौट कर उसने सब कपड़े यों ही उतार कर रख दिये हैं, उन्हें ठीक से रखना है। धोती उसने आँगन में फैला दी फिर अपनी कोठरी में जा कर उसने कपड़ों को ठीक करना शुरू किया। सब कपड़े तहा लेने के बाद उसे याद आया कि 'उसकी ओढ़नी वहाँ नहीं है। शायद उसने उसे कहीं और रख दिया हो, यही सोच वह कोठरी की तलाशी लेने लगी। परन्तु कहीं भी वह दिखाई न पड़ी। चिन्ता को बड़ा आश्चर्य हो रहा था। उसे अच्छी तरह याद है कि कपड़े उसने कमरे में ही बदले थे। उसके अलावा उसकी कोठरी में दूसरा कोई आता भी तो नहीं। ओढ़नी फिर जा कहाँ सकती है? एक बार उसने पुनः सारी कोठरी छान डाली पर ओढ़नी का कहीं पता नहीं लगा।

अपने सिर को हथेली पर टेक वह चारपाई पर बैठ कर सोचने लगी—आखिर हुई क्या? उसकी ओढ़नियों में वही सब से अधिक अच्छी थी। उसे बहुत सँजोकर वह रखती आई है। कल जब निरंजना नहीं मानी तब उसने उसे निकाला था। उसे अच्छी तरह याद है कि ओढ़नी उसने उतार कर बाग में रखी थी अवश्य, परन्तु जब चलने लगी थी तब उसने उसे फिर से सिर पर डाल लिया

कि हमारे सूने घर में भी एक दीपक का रहना आवश्यक है।"

सविता दादा के इस याचना को अस्वीकार न कर सकी। आखिर दादा कोई दूसरे तो हैं नहीं। सुधीर यहाँ रहे या वहाँ, बात एक ही है। सुधीर का नाम भी मामा ने ही रक्खा था; यद्यपि चिन्ता के पिता को यह नाम बिल्कुल पसन्द नहीं है। सविता ने सोचा—सुधीर को पढ़ाना-लिखाना भी तो है, अभी नहीं तो छः सात साल बाद तो उसे दादा के पास शहर पढ़ने के लिए रहना ही होगा। सो उसने सुधीर को अपने दादा को ही सौंप दिया।

शायद भगवान, मनुष्य को पूर्व जन्म के पुण्य के फल-स्वरूप ही संतान देते हैं। सुधीर को जब सविता ने अपने दादा को सौंप दिया तो शायद भगवान को सविता का यह दान नहीं जँचा। उन्होंने उसकी पुत्र की कामना को फिर न पूर्ण किया। सविता ने अपना समस्त प्यार चिन्ता को ही सौंप दिया—उसकी आखों के सम्मुख रह चिन्ता ने माँ के अन्तर में जो स्थान प्राप्त कर लिया वह मामा के पास रह कर सुधीर नहीं प्राप्त कर सका। पिता को भी चिन्ता के प्रति विशेष मोह है। पत्नी के निर्णय पर उन्होंने कभी खेद नहीं प्रकट किया और इसलिए चिन्ता को उन्होंने कभी सुधीर से कम समझा हो ऐसा भी नहीं। माँ और पिता का यह एक छत्र स्नेह पा चिन्ता अधिक लाडली हो गई है। उसने जीवन में जो चाहा, प्राप्त किया। अभाव की इच्छा पूर्ति उसे कभी प्रतीत नहीं हुई।

माँ ने जब कहा तो वह बिल्ली की पीठ थपथपा कर दूसरी ओर चली गई। माँ चिन्ता को जाते हुए देखती रही और वह बिल्ली—जब चिन्ता चली गई तब एक बार उसने सिर उठा कर देखा। उसकी आखों में जैसे भय समा गया था। दूध आधा छोड़कर वह भी चिन्ता के पीछे ही पीछे भाग गई।

यह देख माँ के चेहरे पर मुस्कान की एक आभा स्पष्ट हो उठी, पर माँ दूसरे ही क्षण अपने काम में जुट गई।

बिल्ली को लेकर चिन्ता अपनी कोठरी में चली गई। खिड़की पर उसे बिठा थपथपाते हुए बोली—"तू बड़ी शैतान है रे! क्यों माँ को तंग किया करती है?"

बिल्ली जैसे उसकी बातों को समझने के प्रयत्न में उसकी ओर ताकने लगी।

सहसा कुछ आहट पा बिल्ली कूद कर कमरे के एक कोने की ओर भागी। चिन्ता को इस पर हँसी आ गई।

बिल्ली कमरे के बाहर चली गई तो चिन्ता नहाने-धोने के लिए एक धोती ले कोठरी से बाहर आई।

नहा कर जब वह लौट रही थी तो उसे सहसा ध्यान आया कि कल शाम को बाग से लौट कर उसने सब कपड़े यों ही उतार कर रख दिये हैं, उन्हें ठीक से रखना है। धोती उसने आँगन में फैला दी फिर अपनी कोठरी में जा कर उसने कपड़ों को ठीक करना शुरू किया। सब कपड़े तहा लेने के बाद उसे याद आया कि उसकी ओढ़नी वहाँ नहीं है। शायद उसने उसे कहीं और रख दिया हो, यही सोच वह कोठरी की तलाशी लेने लगी। परन्तु कहीं भी वह दिखाई न पड़ी। चिन्ता को बड़ा आश्चर्य हो रहा था। उसे अच्छी तरह याद है कि कपड़े उसने कमरे में ही बदले थे। उसके अलावा उसकी कोठरी में दूसरा कोई आता भी तो नहीं। ओढ़नी फिर जा कहाँ सकती है? एक बार उसने पुनः सारी कोठरी छान डाली पर ओढ़नी का कहीं पता नहीं लगा।

अपने सिर को हथेली पर टेक वह चारपाई पर बैठ कर सोचने लगी—आखिर हुई क्या? उसकी ओढ़नियों में वही सब से अधिक अच्छी थी। उसे बहुत सँजोकर वह रखती आई है। कल जब निरंजना नहीं मानी तब उसने उसे निकाला था। उसे अच्छी तरह याद है कि ओढ़नी उसने उतार कर बाग में रखी थी अवश्य, परन्तु जब चलने लगी थी तब उसने उसे फिर से सिर पर डाल लिया

था। भूली तो वह उसे वहाँ नहीं और अगर भूलती तो पता अवश्य ही लग जाता या, बाबूजी ही रात को आते समय लेते आते।

उठकर वह बाबूजी के कमरे में गई। वहाँ भी उसे ओढ़नी का पता न चला। घर की सभी कोठरियाँ उसने छान डाली पर ओढ़नी उसे कहीं दिखाई न दी। माँ ने उसे परेशान देखा तो पूछा—"क्या खोज रही है चिन्ता।"

अब माँ को वह क्या बतावे? ओढ़नी खो गई—ऐसा वह कैसे कह सकती है? इसे सुनकर माँ बहुत बुरा मानेगी। अन्त में उसने कहा—"कुछ नहीं माँ।" और कमरे में चली गई।

उसका मन अशान्त हो रहा था। वह बार-बार ओढ़नी के बारे में ही सोच रही थी। अवश्य ही ओढ़नी वह घर के बाहर ही भूली होगी। और यदि वह किसी के हाथ पड़ गई हो तो? तो क्या, माँ से उसे कह ही देना चाहिए, पर उसकी हिम्मत जो नहीं पड़ रही थी।

अनेक प्रकार के विचार उसके मस्तिष्क में छा रहे थे। सम्भव है निरंजना ने परिहास में उसे कहीं छिपा कर रख दिया हो परन्तु, ... पर ऐसा वह न करेगी। चिन्ता के स्वभाव से वह भली प्रकार परिचित है।

उसने निश्चय किया कि वह ओढ़नी के खोने की बात किसी से नहीं कहेगी। पर उसका खो जाना उसे बड़ा खला।

———

चार

चिन्ता ने यौवन से अलसायी अपनी लटें उठाकर आँचल के नीचे दबा दिया। पर वे न मानीं और पुनः लटक कर उसके कपोलों पर बिखर गईं, जैसे उन्हें उन कपोलों का मोह प्रबल होकर सता रहा हो। चिन्ता के अधरों पर मुस्कान खेल गई। शायद यौवन में अधरों के मुस्कान का बाहुल्य हो जाता हैं। जाने कहाँ इस मुस्कान का सागर छिपा हुआ है जो अधरों पर आकर लहराने लगता है। चिन्ता ने इस बार जो लटों को समेटा तो उसके दिल में एक नई भावना पैदा हो गई। उसकी मौसी आई हुई है आजकल। उसके साथ उसकी लड़की भी आई है। दोनों ही समवयस्क हैं। चिन्ता अपने ननिहाल में ही पैदा हुई थी। निरंजना अपने पिता के घर। दोनों का शैशव एक साथ ही फला—फूला था। दोनों में एक समावेश था।

निरंजना उधर से आ निकली। चिन्ता को लटों से उलझी देखकर मुस्कराई और बोली—"क्यों रानी जी मानती नहीं क्या ये?"

चिन्ता के कपोल लाल हो गए। इधर कुछ दिनों से कोई कुछ कहता है तो उसके कपोल जाने क्यों लाल हो जाते हैं। उसने भी मुस्करा दिया। निरंजना आकर उसके निकट खड़ी हो गई। अपनी पतली उँगलियों से चिन्ता के बालों को छूकर उसने कहा—"मेरी रानी जी की यह लटें भला ऐसे मानने वाली हैं?"

कहकर उसने उन्हें भीतर की ओर खोंस दिया। चिन्ता ने अपना आँचल ठीक कर लिया, तब निरंजना बोली—"बहिन आज तो तुम बड़ी प्रसन्न दीख रही हो। कुछ मनभावन हुआ क्या?"

चिन्ता जोर से हँस पड़ी। निरंजना इस 'भावन' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से करती है यह चिन्ता जानती है। वह बोली—"चुप भी रह निरंजना, तुझे तो सदैव यही लगा रहता है। तुम शहर की लड़कियों को चौबीसों घंटे मनभावन ही दिखाई पड़ते हैं।" चिन्ता ने कृत्रिम क्रोध प्रकट करते हुए कहा।

चिन्ता को फिर हँसी आई पर वह हँसी रोके ही थी। होठों को दाँतों से दबा कर उसने मुँह घुमा लिया तो निरंजना फिर बोली—"अगर तुम्हें मनभावन की बात बुरी लगती है तो जरा बताओ तो अच्छी क्या बात लगती है?"

मनभावन की बात तो सभी को भाती है। चिन्ता भला इन्कार कैसे करे; पर वह निरंजना की 'मनभावन' बात का तो वह दूसरा ही अर्थ लगाती है। हँस कर बोली—"मुझे नहीं चाहिए तेरी यह मनभावन बातें।"

"न चाहिये तो न सही, ले मैं जाती हूँ।" कहकर निरंजना वहाँ से चल दी।

चिन्ता ने लपक कर उसे पकड़ लिया और खींचकर बोली—"अरे इतनी जल्दी नाराज हो गई। ऐसा भी क्या गुस्सा—अब भला यों मुँह फुला कर कहाँ जाओगी?"

"जाने न दे, तुझे तो मेरी बात अच्छी ही नहीं लगती—अब क्यों रोकती है?" निरंजना ने ताना दिया।

"अच्छा, अच्छी लगती है—अब खुश हो जा।" चिन्ता ने प्रार्थना की।

निरंजना ने उसकी कमजोरी समझ लिया और हँस पड़ी। चिन्ता को भी हँसी आ गई।

निरंजना को पकड़ कर चिन्ता अपने कमरे में ले गई। जब दोनों चारपाई पर बैठ गईं तो निरंजना ने पूछा—अच्छा बता चिन्ता, मैंने आज क्या सोचा है!"

"सोचे तू और बताऊँ मैं?

"अरे तेरे ही बारे में तो सोचा है।"

"हाँ, हमें तंग करने का कोई नया तरीका सोचा होगा।"

"अरे नहीं चिन्ता, भला तुझे परेशान करके मैं क्या पाऊँगी?"

"तो फिर बता ही दे।"

"मिठाई खिला तो बताऊँ।"

मिठाई-विठाई की बात गड़बड़ है।"

"तो न सही हम नहीं बतातीं।"

"अरे यह शहर तो है नहीं जो मिठाई मँगा दूँ।" चिन्ता ने कहा।

"तो अभी कौन माँगता है जब शहर पहुँच जाना तभी खिला देना।"

"हाँ यह तय रही।" हँस कर चिन्ता ने कहा। "हमें भिखारी के धनी होने पर दान देने का वचन देने में क्या होता है। हमें कोई संकोच नहीं लगेगा।"

"हाँ हाँ वैसा ही समझ लो।"

"तो फिर अब बता न।"

"तेरे शहर जाने का प्रबन्ध हो रहा है।"

"शहर जाने का?" आश्चर्य में पड़कर चिन्ता ने पूछा।

"हाँ रे, शहर! अब तू शहर ही के बड़े-बड़े पक्के मकानों में रहा करेगी।"

"क्या मतलब?" चिन्ता की समझ में निरंजना की बात नहीं आ रही थी। क्षणभर वह उसी प्रकार आश्चर्य-चकित-सी खड़ी रही। फिर सोचा शायद मौसी अपने साथ ही उसे शहर ले जाना चाहती होगी। शहर जाने को उत्सुक भी बहुत रहा करती है। मौसी से उस

दिन बातें हो रही थीं तो उसने कहा भी था—"इस बार मौसी हम भी तुम्हारे साथ शहर चलेंगी। माँ से कहकर हमें अवश्य लेते चलना।"

पर बिना माँ के, चिन्ता रह भी तो नहीं सकती। अभी तक माँ को छोड़कर एक रात भी वह कहीं नहीं रही है। और माँ को इस घर से छुट्टी ही नहीं मिलती कि उसे कहीं आने-जाने का मौका मिले।

निरंजना जब कुछ न बोली और हँसती ही रही, तब कुछ सोचकर चिन्ता ने कहा—"माँ भी चलेगी न?"

"अरे धत् पगली नहीं तो! क्या माँ जन्म भर तेरे साथ ही रहेगी।" निरंजना ने कहा।

"तब फिर हमारा जाना नहीं हो सकता।" चिन्ता ने कहा।

"अरे जायगी तो तू अच्छी तरह से।" आँखें नचा कर निरंजना ने कहा।

चिन्ता हँस पड़ी। यह निरंजना भी अजीब है, पर बात इसकी पहेली की तरह उलझनों से भरी रहती है। कोई बात सीधे से तो यह कह ही नहीं सकती।

"देख निरंजना! तुझे जो कहना हो साफ-साफ कह, तेरी यह पहेली की बुझव्वल हमें भली नहीं लगती।" खिजला कर चिन्ता ने कहा।

"मौसी तेरे ब्याह के लिए कह रही थीं।" निरंजना ने चिन्ता की बाँह में चिकोटी काट कर कहा।

दर्द से चिन्ता आह कर उठी। सिमट कर दूर हटते हुए वह बोली—"बड़ी तेरी बात हमें अच्छी नहीं लगती।"

"ओ हो! बड़ी कोमल है? अरे रानी जी अभी जाने कितनी ऐसी ही चिकोटियाँ सहनी होंगी।" निरंजना ने व्यंग किया।

चिन्ता के मन में आया कि कह दे कि मनभावन की ही होंगी, तेरी नहीं। पर बात मुँह तक आकर रह रुक गई।

ब्याह की बात सुनकर चिन्ता को एक गुदगुदी-सी लगने लगती

है। मन चाहता है कि ऐसी ही बातें सदा करती रहे, पर निरंजना से वह आगे की बात पूछे कैसे, सो वह चुप हो गई तो चुप ही रही।

निरंजना भी थोड़ी देर तक चुप ही बैठी रही पर जब उठकर वह जाने को हुई तो चिन्ता को कहना ही पड़ा।

"बैठो न, जाती कहाँ हो?"

"क्या बैठूँ—मेरी बात तो तुम मानोगी ही नहीं।"

"अच्छी बात है; कह तुझे जो कहना हो! अब मैं मना न करूँगी।" चिन्ता ने मुस्करा कर कहा—जिसका अर्थ निरंजना समझ गई। बोली—

"मैं अपनी ओर से कुछ थोड़े ही गढ़ती हूँ। अभी माँ और मौसी ही तो बातें कर रही थीं।"

"क्या?"

"कहती थीं चिन्ता के लिए अगर कोई अच्छा लड़का मिल जाय तो इसी साल....।"

"लड़का नहीं मनभावन।" चिन्ता को इस बात पर हँसी सूझी।

चिन्ता की इस बात पर निरंजना हंसते-हंसते लोट-पोट हो गई। थोड़ी देर में अपनी हँसी रोक कर वह बोली—

"माँ ने तेरे लिए एक लड़का बताया है, वह हमारे पड़ोस में ही रहता है, बड़ा अच्छा है।"

"पर मालूम तो होता है मानो तूने तो उसपर पहले से ही आँख गड़ा रक्खी है।" चिन्ता ने परिहास किया।

"आँख गड़ा रक्खी है तो क्या हुआ। जब तुझ-सी उसे मिल जायगी तो भला वह हमें क्यों पूछेगा।" निरंजना ने कहा।

बात कुछ थी भी ऐसी ही। निरंजना यद्यपि सुन्दर है फिर भी यौवन के प्रातः में उसका सौंदर्य खिलकर निखर नहीं पाया। कृत्रिम सौंदर्य के प्रसाधानों में उसका सौंदर्य दीप जैसे टिमटिमा कर ही ठण्डा पड़ गया हो।

चिन्ता को मौका मिला था, उसने दूसरा प्रहार किया—"यदि वह तेरे मन में बहुत बसा हो तो मैं अपनी ओर से उसे तुझे दे दूँगी।"

"और तू?" अब हँसी निरंजना।

"कोई और मनभावन न मिलेगा, क्या?"

चिन्ता से कौन कहे कि न जाने कितने मिलेंगे इस रूप यौवन पर!

बातचीत का प्रवाह जिस ओर जा रहा था निरंजना को वह रुचिकर न प्रतीत हुआ। सुरजीत के विषय को लेकर वह अधिक बात करने में अपने को जैसे असमर्थ पाती है। वह सुरजीत जिससे जीतने की आशा रखकर भी वह सदा हारती ही आई है। सो बातचीत की शृंखला को बदल देने के लिए उसने कहा—

"चिन्ता आज दूसरी बेला तो तू बाग में चलेगी न!" बाग का नाम लेते ही जैसे चिन्ता को कुछ याद आ गया सो वह बोली—"नहीं आज मैं न जाऊँगी।"

"रोज रोज जाने से बाबू जी नाराज होते हैं।" कुछ ठहर कर कुछ अनमनी होकर उसने उत्तर दिया।

"अरे उनसे मैं पूछ लूँगी। मुझे तो वह बाग बड़ा ही अच्छा लगता है।"

चिन्ता फिर भी चुप रही तो निरंजना ने कहा—

"बोलती क्यों नहीं?"

"क्या?"

चलेगी?"

"अच्छा चलूँगी।" चिन्ता ने उसी प्रकार उत्तर दे दिया।

फिर शान्ति रही।

"तू क्या सोचने लगी?"

चिन्ता ने कहा—"कुछ भी नहीं, तू नहीं जानती कल एक बात हो गई है।"

"क्या?" आश्चर्य हो गया निरंजना को।

"अरे मेरी वह ओढ़नी थी न, जिसे ओढ़कर मैं कल गई थी याद है ?"

"हाँ, हाँ।"

"कल ही, राम जाने कहाँ खो गई।"

"क्या खो गई ?"

"हाँ, जान पड़ता है मैंने कहीं गिरा दी।"

"पर ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"अरे आज मैंने अपना पूरा घर ढूढ़ डाला। पर नहीं मिली।"

निरंजना थोड़ी देर सोचती रही फिर बोली—"हम लोग जब खेत में गए थे तो याद है तूने उसे उतार कर रख दिया था, फिर चलते समय उठाया था या नहीं ?"

चिन्ता को जैसे सब याद आ गया। सचमुच वह ओढ़नी वहीं भूली होगी। पर अब तो वह मिल न सकेगी।

तभी माँ ने पुकारा—"निरंजना देख तुझे मौसी बुलाती हैं।" निरंजना उठी, चिन्ता की ओर देखकर कहा—"शायद तेरे ही मन-भावन के बारे में कुछ पूछेंगी रे—।" और भाग गई।

पांच

छोटे-छोटे मिट्टी के घर ! ऐसा प्रतीत होता था, मानों वे समय के सागर में डूब-उतरा कर छोटी-छोटी सीपियों की भाँति इकट्ठे हो गए हों। चारों ओर शान्ति लहरें ले रही थी, छोटी-छोटी लहरियाँ बन बिगड़ रही थीं। जिस समय जुगाई घर से बाहर निकला उसका मस्तिष्क अनेक प्रकार के विचारों में लीन था। घर से निकल कर वह थोड़ी दूर ही चला था कि नवनीत मिल गया। जुगाई को देखा तो निकट आकर बोला—जुगाई भाई कहाँ जा रहे हो ? इधर कई दिनों बाद तुम दिखाई पड़े हो। कहीं गए थे क्या ?

"भाई गया तो कहीं नहीं था पर इधर दो-तीन दिन से तबियत कुछ खराब हो गई थी। इसीलिए बाहर नहीं निकल रहा था।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"क्या कहा ? तुम बीमार थे ! मुझे तो इसका कुछ भी पता नहीं मिला था। आजकल बीमारी कुछ बढ़-सी रही है। जिस घर में भी देखो कोई न कोई बीमार है बस।"

"हाँ यही तो बुखार का मौसम है न।" गम्भीर होकर जुगाई ने उत्तर दिया।

"पंडित काका को ही न देखो—पन्द्रह दिन से खाट नहीं छोड़ सके हैं।"

"अच्छा! अब कैसी उनकी तबियत है?"

"कैसी क्या है, वैसे ही चले जा रहे हैं। तुम्हारे बारे में मुझसे पूछ रहे थे।"

"अच्छा आज ही जाऊँगा, घर से बाहर निकलने लगे या नहीं?"

"बिस्तर छोड़कर कमरे की खिड़की तक भी तो नहीं जाते। बाहर की हवा से इतना डरते हैं!"

"ओह, बेचारे पंडित काका!"

"दवा भी तो वे ठीक से नहीं करते। हो क्या फिर!"

"उनका तो यह सदा का ही स्वाभाव रहा है।" जुगाई ने कहा।

"कल वैद्यजी जमींदार के यहाँ आए थे तो मैंने उनसे बहुत कहा तब किसी तरह पंडितजी को देखने जाने को राजी हुए। गए देखा, दवा लिख दी। मैं भी दौड़ा हुआ गया बाजार से दवा ले आया—पर काका तो किसी की सुनते ही नहीं।" नवनीत ने उदास होकर कहा।

"फिर तुमने क्या किया?"

"करते क्या; उन्हें यों ही बिस्तर पर छोड़कर चला आया। मैं तो समझता हूं कि उनके पास जाना भी बेकार है।"

जुगाई के शुष्क अधरों पर एक मुस्कान खेल गई। बोला—"ऐसा न सोचना चाहिए नवनीत। बेचारा गाँव में ही तो रहता है न, उसके कोई न आगे है न पीछे। यदि हम सब भी उसकी देख-रेख न करेंगे तो करेगा कौन?"

"यह तो ठीक है भैया! हम सब तो उनके लिए सब कुछ करने को तैयार रहते हैं, पर जब पंडित काका को कुछ सूझे तब न! वे तो समझते हैं कि बीमारी अपने से आती है, और अपने आप ही जाती रहेगी।" नवनीत ने कहा।

"यह तो उनका जन्म का स्वाभाव ठहरा। और उनके इस स्वभाव के कारण हम उन्हे मरने थोड़े ही दे सकते हैं।"

नवनीत चुप रहा। थोड़ी देर बाद जुगाई ने फिर कहा—"चलो

देखूँ शायद हमारे ही कहने-सुनने का कुछ असर पड़े।"

नवनीत और जुगाई दोनों पंडित काका के घर की ओर चले। पंडित काका को गाँव के सभी लोग मानते हैं। जिस समय पंडित काका गाँव में आए थे उनकी अवस्था लगभग बीस वर्ष की थी। तब इस गाँव के जमींदार घराने का समय ऐसा नहीं था। सौभाग्य का सितारा बुलन्दी पर था। पंडित काका को उन्होंने अपने यहाँ रख लिया था। धीरे-धीरे पंडित काका ने गाँव के कोने पर अपना एक छोटा-सा घर भी बना लिया। तब से वे सदा इसी घर में रहते हैं। अधिक धन इकठ्ठा करने का उन्होंने कभी प्रयास भी नहीं किया। पंडित काका का स्वभाव बड़ा ही हँसमुख था। परिणाम यह हुआ कि गाँव में वह सभी के यहाँ आते-जाते हैं, उनकी बात भी सब मानते हैं। जमींदार के यहाँ तो उनका बहुत ही मान था। जीवन की तीन दशाक्रिया उन्होंने यों ही बिता दीं। उनके सामने के पैदा हुए बच्चे अब पिता हैं, पर पंडित काका के सामने तो वे अब भी बच्चे ही बने हैं। कभी-कभी जुगाई सोचता है कि यह पंडित काका कहाँ का मोह समेट कर इस धरती पर उतरे हैं, जो सभी के स्नेह को अपने में ही सीमित रखना चाहते हैं। पर ऐसा स्नेह भी क्या? जुगाई को लगा जैसे पंडित काका में कुछ ऐसी विशेष शक्ति नीहित है जिसके कारण जो भी उनके सम्पर्क में आता है, अपना हो जाता है। पर एक बात है इस पंडित काका में, किसी स्त्री के प्रति कोई मोह इन्हें कभी नहीं हुआ! कैसा है यह मनुष्य? जुगाई को सहसा उस दिन वाले दुपट्टे का ध्यान आ गया। उसके ओठों पर मुस्कान बिखर पड़ी। नवनीत ने, जो उसे शून्य में स्मित रेखा निर्मित करते देखा तो उसने पूछा—"क्या बात है, जो मुस्करा पड़े जुगाई?"

"कुछ नहीं भाई, पंडित काका के ही बारे में सोच रहा था।"

"क्या?"

"यही कि पंडित काका जब नवयुवक थे तभी तो यहाँ आए।

सारा जीवन उन्होंने इसी तरह काट दिया। क्या इन्हें कभी किसी जवान स्त्री के प्रति भी मोह नहीं उत्पन्न हुआ?"

नवनीत इस पर जी खोलकर हँसा, फिर बोला—"भैया जुगाई झूठ न बोलना। हमें तो जान पड़ता है कि कहीं तुम्हारी आँख उलझ गई है।"

"चुप भी रह? कहता क्या है? पर मैं तो पंडित काका के बारे में यह बात अवश्य सोच रहा हूं।"

"यह तो अवश्य है जुगाई भाई! जाने कैसे उन्होंने अपनी जवानी कुमार रहकर ही काटी होगी। पर अब तो उनके दिन भी बीत चुके।"

"हाँ।" जुगाई ने कहा और कुछ सोचने लगा।

"नवनीत भी विचारों में मग्न दिखाई पड़ता था। शून्य वातावरण में वे दोनों व्यक्ति इस प्रकार चले जा रहे थे जैसे संध्या के सूने आकाश में दो पंछी उड़े चले जा रहे हों।

क्षण भर बाद नवनीत ने कहा—"भाई हम तो समझते हैं कि बिना प्रेम के तो जीवन बेकार है।"

"तुझे तो प्रेम छोड़ और कुछ सूझता ही नहीं।"

"अजी प्रेम के सिवा है ही क्या जो सूझे?"

"क्या और कुछ नहीं है? सामने यह पेड़ देखता है कि नहीं?"

"हाँ है तो।' नवनीत ने कहा।

"तो फिर तुझे प्रेम करना नहीं आता। नहीं तो यह पेड़ भी न सूझता।"

नवनीत हँस पड़ा। यह जुगाई भी कितना अजीब है जब देखो तब विचित्र ही बातें करता है। उसने कहा—"कह ले, जब कहीं उलझ जायगा तब मेरे ही पास आएगा।"

"तेरे पास क्यों आऊँगा।" जुगाई ने मुस्करा कर पूछा।

"आएगा तरकीबें पूछने।"

"तरकीबें ?"

"हाँ-हाँ, तरकीबें।"

"बैठा रह, हमें ऐसा प्रेम नहीं करना है कि तरकीबें सोचनी या पूछनी पड़ें।"

पर भाई, देख लेना, बिना तरकीब के तो प्रेम पूरा ही नहीं होता।"

"हो चाहे न हो, नहीं करूँगा बिना प्रेम किए मेरा बिगड़ता ही क्या है देखो न काका ने कभी नहीं किया ?" जुगाई ने कहा।

भला इस नादान मानुस जुगाई से कौन बताए कि बिना प्रेम किए क्या बिगड़ता है ? सब सोचकर भी तो प्रेम करना ही पड़ता है। नवनीत मुस्करा पड़ा। पर वह कुछ बोला नहीं। उसकी मुस्कान में एक तीखा व्यंग था। जिसे जुगाई सहन न कर सका। जी में तो आया कि कह दे कि देख लेना मैं किसी से प्रेम नहीं करूँगा। पर तभी उसे लगा जैसे किसी ने उसके अंतर को खरोंट लिया हो। मान लो कहीं वह उस अज्ञात परिचया दुपट्टे वाली से प्रेम करने लगा तो ? यही सोच उसकी हिम्मत टूट गई। वह कुछ बोला नहीं। चुप-चाप चलता रहा।

पंडित काका का घर आ गया तो नवनीत ने कहा—"जुगाई भाई, तुम्हारी बातों में मेरा एक काम रह गया। मुझे आज तनिक जमींदार के यहाँ जाना है।"

"क्यों ?"

"सवेरे ही तो बापू ने कहा था। आज उनका आदमी आया था, लगान माँगने पर बापू ने कहलाया है कि थोड़े दिन सबर कर जायँ शीघ्र ही प्रबन्ध करके पहुँचा दूँगा।"

"तो जल्दी क्या है—अभी लौट कर उधर ही से चलेंगे, तुम कह देना।"

"भाई यह न कहो। काका के यहाँ कितनी देर लगे क्या

ठिकाना ।"

"अरे नहीं अधिक देर थोड़े ही बैठेंगे । हमारी भी तबियत गड़-बड़ ही है । चलो जल्दी ही लौट आएँगे ।

नवनीत मन मारकर रह गया । कुछ बोला नहीं ।

पंडित काका अपनी चारपाई पर पड़े थे । जुगाई को देखते ही तकिया के सहारे अपनी केहुनी टेक ली । बोले—"जुगाई तू तो इधर कई दिनों बाद दिखाई पड़ा है ।"

"हाँ काका तुम्हारी ही तरह मैं भी तो चारपाई पकड़े था न !"

"क्यों तू भी बीमार होगया था क्या ?"

"हाँ ।"

"अभी ही से तू बीमार पड़ने लगा । मैं जब तेरी तरह था तो हमें यह भी नहीं मालूम था कि बीमारी क्या होती है ।"

"तब वे दिन और थे काका ।"

"अरे काका की न कहो ।" नवनीत बीच में बोल उठा—"अकेले ही रहकर इस घर में इन्होंने सारा जीवन बिता दिया है । और कोई होता और इस प्रकार रह जाता तो देखता ।"

पंडित काका ने नवनीत की ओर एक शंकित पर तीव्र दृष्टि से देखा । वे नवनीत के इस वाक्य का अर्थ समझने की जैसे चेष्टा कर रहे थे । उन्हें लगा कि यह दोनो युवक आज किसी खास मतलब से यह चर्चा शुरूकर रहें है । जुगाई ने पंडित काका के मन की बात पढ़ ली । उसे लगा सम्भवतः यह नवनीत रास्ते भर में जो सोचता रहा है उसी को उसने यहाँ उपयुक्त स्थान पा कह दिया है । उसे हँसी भी आई पर वह दबाए ही रहा ।

पंडित काका ने कहा—"नवनीत ! तू नहीं जानता क्या, मैं भला अकेला कब रहा, यह पूरा गाँव ही तो मेरा परिवार है ।"

अब नवनीत ने अनुभव किया कि उसने पंडित काका के मर्म का घाव दुखा दिया है ।

बीमारी की खाट पर पड़ा अस्वस्थ मनुष्य शायद अधिक भावुक उठता है । शरीर की अस्वस्थता तथा निर्बलता और रोग-शैय्या का एकान्त उसे और भी अधिक क्रियाशील बना देता है। पंडित काका अपने कमरे की दीवालों के बाहर के संसार के लिए परित्यक्त प्राणी की भाँति पड़े थे। अपने इस बीमारी से जाने क्यों उन्हें अपने आप से निराशा उत्पन्न हो गई थी। जब मनुष्य अपने जीवन से निराश हो जाता है तो उसकी स्मृतियाँ उभर आती हैं। मिटे तथा धुँधले चित्र पुनः नए बनकर सामने टँग जाते हैं। यौवन के चित्रों को पंडित काका ने बहुत सँजोकर रक्खा था। जीवन के प्रति उनके हृदय एक विराग था, सुख के प्रति एक विमोह ! जीवन में उन्होंने अपने व्यक्तित्व को दूसरों में मिला-घुला देना ही जैसे शांति का एकमात्र साधन समझा था। गाँव की कितनी ही बूढ़ियाँ उनकी भाभी लगती थीं। कभी कोई कहती भी—"पंडित, किसी को लाकर घर क्यों नहीं बसाते, कब तक योंही रहोगे ?"

सुनकर पंडित हँस भर देते। जैसे यही हँसी ही उनका उत्तर था। घर बसाने की बात उन्हें कभी नहीं रुची। इधर कई दिनों से उनके मस्तिष्क में जाने क्या भाव उठ रहे हैं कि नवनीत की बात से वे कम्पित से हो उठे। जैसे किसी ने शांत जलाशय में कंकड़ फेंककर उसमें लहरियाँ उत्पन्न कर दीं। झट वे लहरियाँ उठकर तट की ओर दौड़ीं। उनमें गति थी परन्तु वे अस्थिर थीं। शायद तट तक पहुँचने की सामर्थ उनमें नहीं थी। पर एक बार जो चोट खा उठता है वह तट छूकर ही अपना अस्तित्व विलीन करता है। पंडित काका भी तो सागर से अथाह ही थे। अन्तर उनका निर्मल-जल के मुकुट की भाँति चंदा की आँख-मिचौनी देखने को जैसे प्रस्तुत था तभी शायद कहीं से कोई पत्थर आ गिरा। लहर की भाँति पंडित काका कूल छूने को दौड़ पड़े। परन्तु उनका कूल शायद इतना निकट नहीं था कि इस जीवन में वे उसमें निकट पहुँच पाते। इस बीमारी

में शायद मध्य की गहनता में गिरे उस पत्थर को एकबार मुड़ कर वे देखने का प्रयत्न कर रहे थे। एक पत्थर जो इतनी चिरन्तन पीड़ा दे सकता है उसे पंडित काका ने अपने हृदय में दफ़ना रक्खा था। समय के प्रवाह ने उस पर जाने कितनी तहें लगा दी थीं। शायद पंडित काका आज उसे कुरेद कर अपने आघात की स्मृति, उस पत्थर को देखने का प्रयत्न कर रहे थे।

एक निश्वास भरकर उन्होंने नवनीत की ओर देखा और बोले—"नवनीत बेटा, अभी तू ने दुनिया नहीं देखी। जब देखोगे तो अपने आप ही अपना पंथ निर्मित कर लोगे। पर तुम्हें बता रहा हूं कि जो आकर्षण, स्त्री की ओर से आँखों में प्रवेश करना चाहे उस पर मनुष्य को विश्वास नहीं करना चाहिए। वह तारों की तरह शाश्वत होकर भी क्षणिक ही होता है।"

नवनीत को पंडित काका की यह बात कुछ समझ में न आई। वह उनका मुँह देखने लगा। पर जुगाई को लगा जैसे कहीं दूर पर बिजली गिरी हो—और मिजराब से तार झन्-झन् कर के टूट रहे हों। वह एक करुण-स्नेह दृष्टि से पंडित काका की ओर निहारने लगा। पंडित काका ने कहा—"तुमने मेरा अभिप्राय नहीं समझा न! न समझो। अधिक मैं किसी को समझाना भी नहीं चाहता, एक बात मन में आई सो कह दिया।"

"पर काका।" इस बार नवनीत ने कुछ आधी बात कही।

"तुम सब कभी नहीं समझ सकते बेटा! पर अपने काका की बात अवश्य मानना। मैंने जीवन में बहुत कुछ अनुभव किया है। नारी का मोह मनुष्य को बहुत नीचे गिरा देता है। मैंने अपने को सदा ही इस मोह से मुक्त रखने का प्रयत्न किया है।"

"काका तुम....।" नवनीत को आगे कहने का साहस नहीं हो रहा था।

मैं सब जानता हूं नवनीत! कभी ऐसा कहा नहीं। कई बार

सोचा कि तुम्हें एक बार समझा दूँ। परन्तु नहीं कहा—आज कह दिया है। प्रेम करने को मैं बुरा नहीं समझता पर प्रेम इस संसार की वस्तु नहीं। इस मृत्युलोक में तुम्हें इससे कभी सुख नहीं मिल सकता।"

नवनीत को लगा कि वह पंडित काका की आँखों के सामने से भाग कर दूर—बहुत दूर चला जाय। वह भाग नहीं सकेगा। उनके पाँव पृथ्वी में धँस गए हैं। वे उठ नहीं पा रहे थे। जुगाई का मन भी चंचल हो उठा था। उसे लगा जैसे हवा के झोंके लता में खिले किसी फूल को झकझोर कर उसका सौंदर्य लूटे ले रहे हों।

पंडित काका की आकृति अत्यन्त गम्भीर हो गई थी। थोड़ी देर तक जुगाई और नवनीत चुपचाप बैठे उनका मुँह ताक रहे थे। फिर उठकर चुपचाप बाहर आ गए, काका वैसे ही समाधि लगाए रहे। बाहर आकर नवनीत ने कहा—"जुगाई भैया आज तो पंडित काका ने...।"

जुगाई ने बीच में ही बात काटी—"पंडित काका को भी तुम्हारे प्रेम की बात मालूम हो गई है।"

"मुझे भी बहुत आश्चर्य है।" नवनीत ने कहा।

"पर नवनीत आखिर क्यों तू इस प्रकार पागल हो उठा है?"

"पागल! भैया मैं तो स्वयं ही बहुधा सोचता हूं, पर जैसे अपने पर कुछ वश ही नहीं चलता।"

"तब तो सचमुच यह प्रेम विचित्र चीज है।" जुगाई ने हँसकर कहा।

"जुगाई कभी तू आग में जला है? कैसी जलन होती है! और उस जलन को यदि तू आग से ही सेंके तो बड़ी राहत मिलती है।" नवनीत ने भावुकता में डूबकर कहा।

"होगा, मैं कभी ऐसा नहीं जला।" जुगाई हँस दिया।

"नहीं जला?" नवनीत ने आश्चर्य से पूछा—"तो मैं कहूंगा

कि एक बार अपने को जला ले—फिर देख आग की जलन तुझे कितनी प्रिय लगती है।"

"पर केवल जानने के ही लिए कोई अपने को जलाए ही क्यों?" जुगाई ने कहा।

"यही तो कहता हूं जुगाई! कोई जान कर थोड़े ही जलता है पर जब जल जाता है तब आग की जलन भी उसे सुखकर प्रतीत होती है।"

जुगाई के अन्तर का हास अधरों पर बिखर गया।

नवनीत ने पुनः कहा—"जुगाई यही तो प्रेम का रहस्य है। जब पहली बार मनुष्य अदृष्ट की आड़ में आग से छू जाता है तो फिर उस प्रथम जलन की शांति के लिए ही तो बार-बार अपने को जलाता रहता है।"

जुगाई को इस पर परिहास सूझा। बोला—"नवनीत, तेरी बात तो हमें ठीक नहीं जँचती। मैं समझता हूं कि प्रेम मनुष्य के अन्तर की एक इच्छा विशेष है जो भूख प्यास-सी ही प्रबल है। मनुष्य उस पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता इसीलिए तो प्रेम के चक्कर में फँस जाता है।"

"हाँ, ऐसा भी तुम कह सकते हो। सच मानो भैया, पहली बार जब मैंने सुखिया को देखा था तब क्या कभी सोचा था कि मैं उसके प्रेम में इतना पागल हो जाऊँगा, पर जो दृश्य उलझ गया! तुम ठीक कहते हो जुगाई भैया!"

"हाँ भूख प्यास किसी को कम सताती है किसी को बहुत। तुम तो रमई को जानते ही हो। अरे उस साल के अकाल में कहते हैं वह महीनों पानी पीकर ही रहा है—पर सोचो कहीं हमें-तुम्हें एक दिन भी भूखे रहना पड़े तो कैसा हो?

"हाँ।"

"ऐसा ही कुछ लोग प्रेम के भी विषय में कहते हैं। बिना प्रेम के वे रह

ही नहीं सकते ।"

"तू सच कहता है जुगाई।" नवनीत ने एक निश्वास खींच कर कहा।

"एक से प्यार किया—वह सामने से हटी तो दूसरी का खोज निकालना जरूरी है।"

"नहीं भाई, यह बात मैं नहीं मानता। अगर ऐसा हुआ तो वह प्रेम नहीं हुआ। वह तो बनिया का सौदा हुआ। प्रेम तो सच्चा वही है जो जन्म भर निभाता रहे।" नवनीत ने आपत्ति की।

"यही तो नवनीत तू भूलता है। जिसे प्रेम करना आवेगा वही तो बार-बार प्रेम कर सकता है।" जुगाई मुस्कराया।

"बार बार प्रेम करना ?" नवनीत ने आश्चर्य से जुगाई की ओर देखा। "पर भैया मैं तो जन्मभर एक को ही प्रेम करता रहूँगा। यही निश्चय कर लिया है।"

"देखना।"

नवनीत कुछ और कहने जा रहा था कि दोनों जमींदार के घर के सामने आगए।

गाँव में शायद यही घर सब से अच्छा है। पूर्वजों के बनवाए घर में जमींदार बाबू रहते हैं। सामने नीम का एक पेड़ है जो बहुत पुराना होकर विशाल हो गया है। जमींदार परिवार को वह कितने वर्षों से एक टक निहारता चला आ रहा है। इसकी सीमित छाया में ही वर्तमान जमींदार साहब घुटनों के बल खड़े हुए थे और आज इसकी छाया कितनी विस्तृत हो गई है।

दरवाजे पर काफी खुली भूमि है जिसके बीच नीम का यह पेड़ खड़ा है। जेठ की दुपहरी में लू जब हर हर करती ताण्डव करती है तो पत्तियाँ इसकी काँप-काँप कर गिरती हैं और गिर-गिर कर पृथ्वी पर पीली-पीली बिछ जाती हैं। पतझड़ की दखिनी हवा इसे नंगा कर इसका नग्न रूप दिखला देती है। पर शायद यह ऋतुओं

के परिवर्तन का आदी-सा हो गया है। भूले वसन्त के आगमन की आशा में भी यही इसी प्रकार निश्चल, संतोषी बना खड़ा रहता है।

जाड़े में इसके नीचे अलाव की ढेरी लगती है जिसकी आग दिन भर राख के ढेर के नीचे ही दुबकी रहती है। पास ही तमाखू का डिब्बा और चिलम रखी रहती है। एक टूटी, पुरानी चिमटी भी पड़ी रहती है। दिवंगत जमींदार साहब को तम्बाखू पीने का बड़ा शौक था। उन्हीं के समय से इस दरवाजे पर चौबीसो घंटे चिलम गरम रखने की प्रथा सी चली आई है। नए जमींदार साहब को तम्बाखू पीने का उतना शौक तो नहीं ही है परन्तु पिता ने जो तरीका निकाल दिया है, उसकी तो रक्षा उन्हें करनी ही पड़ रही है। सो चिलम-तमाखू अब भी बाहर रक्खी रहती है।

दरवाजे पर कोई था नहीं। तीन चारपाइयाँ पड़ी थीं। गाँववाले जमींदार साहब को बाबू साहब कहते हैं। नवनीत और जुगाई पहले तो थोड़ी देर खड़े रहे पर जब कुछ आहट न मिली तो नवनीत ने पुकारा—"बाबू साहब हैं?"

बाबू साहब तो घर पर थे नहीं, भला उत्तर क्या मिलता।

नवनीत ने फिर पुकारा, पर पुनः कुछ उत्तर न मिला। इस बार जुगाई ने कहा—"नवनीत, चलो फिर किसी समय आना, शायद कोई है नहीं।"

"ऐसा कैसे हो सकता है? शायद भीतर हों।" नवनीत ने कहा।

"तो फिर जोर से पुकारो।" जुगाई ने कहा।

बाँई ओर परती जमीन पड़ी थी जिसे जमींदार साहब ने घिरवा लिया है। कुछ तरकारी आदि इसमें उन्होंने बो रक्खी है। जुगाई इसी हाते के दरवाजे की ओर बढ़ गया। द्वार पर खड़ा हो वह भीतर बाबू साहब की खेती देख रहा था। सहसा सेम के झुरमुटों के बीच से कोई बाहर निकला। आँखों से आँखें जो टकराईं तो लगा मानो दो पत्थर टकरा गए हैं। आग निकल आई है। जुगाई को लगा जैसे

सौंदर्य की मूर्ति उतर आई है। वेल सी वह देह-यष्टि एक बार लहरा उठी जैसे जुगाई के चितवन का प्रहार वह सह न सकेगी। पारिजात के सुनहले कपोल पर जैसे किसी ने लाल अंगूरी शराब ढलका दी हो। अधरों का स्पन्दन कम्पित हो उठा। साड़ी का कोर उठा कर उसने सिर पर तान लिया। पर जुगाई उसी प्रकार उस सौंदर्य-राशि को निहारता रहा। आँखों की सैन जैसे किसी महामोह के सागर में जाकर विलीन हो रही है।

वह तरुणी ठिठक कर क्षणभर तक जुगाई की ओर देखती रही। फिर दरवाजे की ओर बढ़ी। पर जुगाई वैसा ही बुत सा खड़ा रहा। उसकी समस्त ज्ञान शक्तियाँ जैसे एक ही स्थान पर केन्द्रित हो गईं सो वह केन्द्र ही जब आगे की ओर बढ़ने लगा तो जुगाई को लगा जैसे आस-पास की वस्तुएँ उसके लिए निर्जीव हो रही हैं।

फाटक के पास आ वह युवती बोली—"किसे पूछते हो?"

जुगाई जैसे पक्की-नींद से हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। वह जैसे मूर्छा से जगा हो—रक्त जैसे उसका थम गया हो, सो उसने शरीर को थोड़ा अकड़ा कर अपने को जैसे सचेत किया, बोला—"बाबू साहब हैं?"

"नहीं बाग गए।"

जुगाई चुप रहा।

"कुछ काम था?"

"हाँ।"

"क्या?"

जुगाई ने प्रश्न जैसे नहीं सुना।

"काम बता जाओ, आवेंगे तो कह दूँगी।

घबड़ा कर हाँफता-सा वह बोला—"काम तो हमें नहीं मालूम।"

इस बार युवती हँस पड़ी। "अभी तो कहते थे कि काम था, अब कहते हो काम ही नहीं मालूम।"

अपनी बात पर जुगाई को भी हँसी आ गई। मुस्कराते हुए बोला—"बात यह है कि मेरा कोई काम नहीं। मैं तो अपने एक साथी के साथ चला आया। उसी को किसी काम से जमींदार साहब से मिलना है। वह वहाँ दरवाजे पर है।"

"तो कह दो बाग में ही भेंट करलें।" युवती ने उत्तर दिया।

अब जुगाई लौट पड़ा। खड़ा रहकर अब वह मूर्ख ही तो कहाता। सोचा, वह भी अन्दर चली गई होगी! तनिक देखें तो, सो गर्दन घुमाकर देखा— पर वह तो खड़ी है। जुगाई को कुछ अजीब-सा लगा। उसने मुँह दूसरी ओर कर लिया और जल्दी-जल्दी चलने लगा।

उसे आता देख नवनीत भी उधर ही बढ़ गया। जुगाई ने कहा—"जमींदार साहब से मिलना हो तो बाग में चले जाओ, वहीं मिलेंगे वे।"

"कोई था क्या उधर?"

"हाँ।"

जुगाई सोच रहा था कहीं नवनीत ने 'कौन' का प्रश्न किया तो वह उत्तर न दे सकेगा। पर पहचान तो वह उसे देखते ही गया था। इन थोड़े से वर्षों ने चिन्ता में कितना परिवर्तन ला दिया है। उसे वे दिन स्मरण हो आए जब वह छोटा था। पिता ने उसे स्कूल में पढ़ने के लिए बिठा दिया था। प्रतिदिन प्रातः वह अपनी तख्ती और किताबें लेकर स्कूल के लिए चल पड़ता। रास्ता बाबू साहब के दरवाजे से होकर था। चिन्ता दरवाजे पर बैठी खेला करती। आस-पास अहिरो के घर हैं। रमिया, धनिया यह सभी तो उस समय छोटी थीं। चिन्ता इन्हीं सब के साथ खेला करती थी। जुगाई नित्य-प्रति उनका खेल देखा करता।

परन्तु वे समय बहुत पीछे छूट गए। चिन्ता अब कितनी बड़ी हो गई है और सुन्दर भी। सुना है बाबू साहब उसके लिए वर खोज रहे हैं। अरे धनिया को ही न देखो? कौन चिन्ता से बड़ी थी।

जाने काअवसर ही उन्हें नहीं मिला। यह बात नहीं है कि उन्हें गाँव में रहना आवश्यक ही रहता है---परन्तु अब कहीं वे जाना ही नहीं चाहते, और जब कोई कहीं जाना न चाहे तो उसे जाने की आवश्यकता महसूस ही कैसे हो सकती है।

पिता की मृत्यु के बाद कुछ दिनों तक मुकदमें के सिलसिले में उन्हें शहर जाना पड़ा था परन्तु उसके बाद उन्हें फिर कभी अवसर नहीं पड़ा अब तो वे गाँव पर सदा ही रहते हैं। जैसे पिंजड़े के भीतर रहने वाला पक्षी कुछ दिनों बाद ही पिंजड़े का ही अभ्यस्त हो जाता है, तो पिंजड़े का खुला द्वार देख कर भी बाहर जाने की उसकी इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार बाबू साहब की इच्छा भी अब कभी बाहर जाने की नहीं होती।

वे धीरे धीरे चल रहे थे, कारण उनके पास समय काफी था। चिन्ता ने भी बाग में आने को कहा था पर उसे आने में अभी घण्टे भर की देर है। बाबू साहब जानते थे कि चिन्ता के आ जाने पर उनका कोई काम न हो सकेगा और फिर उसके साथ निरंजना रहेगी। निरंजना बड़ी ही शोख लड़की है। बाबू साहब सोच रहे थे कितनी चंचल है, कितनी स्वतंत्र! जैसे जीवन में उसने सब कुछ हँस खेल कर ही बिता देना सीखा है।

उनको अपनी चिन्ता का ध्यान हो आया। चिन्ता अब सयानी हो चुकी है। उसका विवाह उन्हें जल्दी ही करना है। लड़के भी उन्होंने देखे, परन्तु एक भी तो उन्हें पसन्द नहीं आता। जाने क्यों अपनी चिन्ता के लिए उन्हें कोई लड़का ठीक जँचता ही नहीं। अभी कल ही तो निरंजना की माँ एक लड़का बता रही थी। कहती थी कि उन्हीं की पड़ोस का है। बचपन से ही उन्होंने उसे देखा है। घर के भी वे लोग अच्छे-खासे हैं। सुना है कि पिता कहीं अच्छी जगह पर नौकर है। लड़का भी पढ़ा-लिखा है ही। पर शहर में अपनी चिन्ता को ब्याहने का जी चाह कर भी नहीं चाहता। शहर

के वातावरण के प्रति बाबू साहब के मन में।कभी आकर्षक उपजा ही नहीं फिर देहात में कोई अच्छा लड़का दिखाई भी नहीं पड़ता। पिछले युद्ध के बाद से जमींदारी का सारा रस ही जाता रहा है। सो कोई अब जमींदारी के सहारे ही बैठा थोड़े ही रहता है।

सोचते-सोचते क्षणभर को बाबू साहब खेत की मेड़ पर रुक गए बगल में गेहूं का खेत लहरा रहा था। उन्होंने अपना हाथ फैला कर उनके बालों को छुआ। इस स्पर्श से उनके शरीर में एक बार जैसे बिजली छू गई हो। सारा शरीर झनझना सा उठा। एक बार मुड़ कर उन्होंने अपने घर की ओर देखा। गाँव के छोटे-छोटे घरों के बीच उनका चूने की सफेदी से पुता घर चमक रहा था। उसकी धुँधली-सी छाया उन्हें दिखाई पड़ रही थी। इसी घर में उनका जन्म हुआ था। इसी में उन्होंने अपने माता-पिता की मृत्यु देखी है। यह घर ही तो उनके जीवन का केन्द्र बना रहा है।

क्षणभर बाद वे फिर चलने लगे। दूर पर बाग की चहारदिवारी दिखाई पड़ रही थी। उनके पग धीरे-धीरे उठ रहे थे, परन्तु जब मंजिल बहुत दूर न हो तो फिर कोई कितना ही धीरे क्यों न चले उसकी समाप्ति हो ही जाती है। बाग निकट आ गया तो बाबू साहब के हृदय में एक विचित्र सी भावना जैसे आकर उसके अन्तर को हिला गई। खेतों में खड़े पौधे एक बार हिल उठे। उन्हें ऐसा लगा जैसे वे उसके मन की परिस्थित से परिचित हों। जैसे उन्होंने उसका स्वागत करने के लिए एक बार अपने समस्त शरीर को झकझोर दिया हो। एक आनन्द का श्रोत जैसे चारों ओर लहरा गया।

चहारदिवारी के बाहर भी तो भीतर के पेड़ों की छाया पड़ रही थी। क्षणभर को वह छाया में रुक गये। इतनी दूर से धूप में आने से शायद उनको गर्मी लग रही थी। उसकी दृष्टि जुगाई पर पड़ी। वह बाग की चहारदिवारी के किनारे बनी मोड़ पर से उसी ओर खड़ा रहा। जब फाटक बंद हो गया तो वह गाँव की ओर लौटा।

को आ रहा था। जुगाई ने बाबू साहब को देखा तो उसके दोनों हाथ उठ गए उसने कहा—"प्रणाम, बाबू साहब !"

उत्तर में बाबू साहब ने सिर झुका लिया। जुगाई से उनका परिचय नहीं है। पर उसको उन्होंने गाँव में देखा अवश्य ही है। जब कोई उन्हें नमस्कार करता है तो बाबू साहब को अपनी उच्च वंशीयता जैसे छू जाती है और केवल सिर झुका कर उत्तर देते हैं।

क्षणभर को जुगाई ठिठक गया, पर बाबू साहब ने उसकी ओर ध्यान न दिया। वे बाग के फाटक को खोलकर भीतर चले गए। जुगाई खड़ा रहा। जब फाटक बन्द हो गया तो वह गाँव की ओर लौटा।

उस दिन जो दुपट्टा उसे खेत में मिल गया था, उसने उसे उस समय कंधे पर रख छोड़ा था। जिसका होगा वह स्वयम् ही पहचान लेगा और जब कोई माँगेगा तो वह उसे दे देगा। उसके अधरों पर मुस्कान नाच गई। सोचा—जिस लड़की की यह चादर होगी और वही जब इसे चादर लिए देखेगी तो उसे कैसा लगेगा उसके पास आकर माँगने का साहस शायद उसे न होगा। पर कोई न कोई कभी मांगेगा अवश्य ही। यह जैसे उसे विश्वास था।

गाँव के निकट पहुँचा ही था कि उसने देखा कि गाँव से बाहर निकल दो स्त्रियाँ उसी ओर आ रही थीं। उनके पीछे एक आदमी और था। जुगाई ने दूर से ही उन्हें पहचानने का प्रयत्न किया। पीछे तो रामदीन था। वह रामदीन जमींदार साहब के यहाँ नौकर है। तो क्या यह स्त्रियाँ जमींदार साहब के घर की हैं! सम्भव है, अपने बाग की ओर जा रही होंगी। उनमें से तो एक बाबू साहब की लड़की मालूम देती थी। बाबू साहब की लड़की !—सोचते ही उसे लगा जैसे उसके शरीर में एक सनसनी-सी व्याप गई हो। वह क्षण-भर ठहर कर आनेवालों को देखता रहा। चिन्ता आगे-आगे चल रही थी। वह आज हरे रंग की एक साड़ी पहने थी। पीछे एक और

लड़की थी। रामदीन सब के पीछे चल रहा था। जुगाई यही-सोच रहा था कि यह दूसरी लड़की कौन हो सकती है। यह तो वह अच्छी तरह जानता है कि बाबू साहब के एक ही लड़की है। सो यह दूसरी हो कौन सकती है? वह यही सोचता हुआ चलने लगा। उसने पैर धरती पर इस प्रकार खट्-खट् करते चल रहे थे, जैसे उन्हें अपनी गति का पूर्ण ज्ञान है। जुगाई को जैसे यह ध्यान ही न रह गया कि उसके पाँव चल रहे हैं फिर जिसमें गति होती है, उसे अपना पथ निहारते ही रहना चाहिए। जुगाई की दृष्टि तो आनेवालों पर गड़ी थी। जैसे योगी समाधि प्राप्त करने को अपनी दृष्टि को एक बिन्दु में करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार जुगाई की दृष्टि केन्द्रित होकर चिन्ता पर जम गई थी।

मेड़ अधिक चौड़ी नहीं थी इसलिए जुगाई दाईं ओर के रास्ते पर कुछ दूर जाकर खड़ा हो गया। चिन्ता पास आई। कनखियों से उसने जुगाई की ओर देखा। जुगाई भी उसकी ओर निहार रहा था। दो लहरें विपरीत दिशा से आकर जैसे टकरा गई हों। जुगाई ने अपनी आखें नीची करलीं पर चिन्ता उसे निहारती ही रही। जुगाई की उँगलियाँ उसके कंधे पर पड़ी चादर से उलझ कर खेलती रहीं। और चिन्ता उन उगलियों की क्रीड़ा देखती ही रही। उसके पाँव धीमे हो गये थे।

निरंजना को मौका मिला। उसने चुपके से चिन्ता की बाँह में चिकोटी काट ली तो चिन्ता को अपनी भूल ज्ञात हुई। जुगाई की ओर वह इस प्रकार देख रही थी—निरंजना को तो छोड़ो, रामदीन ने मन में क्या सोचा होगा। निरंजना के सोचने का कुछ भी डर नहीं। उसे वह समझा सकती है। पर रामदीन, हे भगवान!

पर तबियत न मानी। एक बार उसने फिर आखें उठाकर उसकी ओर देखा। इस बार उसकी आखों पर मोह की काली चादर शायद नहीं पड़ी थी। सहसा वह चौंक पड़ी। अच्छा! तो उनके

पास यह चादर पहुँच गई है; कंधे पर उसे रख छोड़ा है—। आगे वह सोच न सकी। मन का वाक्य मन में ही अधूरा ,रह गया। कोई मर्द, जनानी चादर कंधे पर गर्व से थोड़े ही रक्खेगा। तो क्या जुगाई को उसकी चादर से कुछ संतोष मिला है। जो उसे इस प्रकार रक्खे हुए है। पर उसे पता क्या कि यह चादर किसकी है। उसे तो वह अवश्य ही खेत में मिली होगी और—

आगे कुछ सोचने में वह असमर्थ रही। जुगाई आखें गाड़े नीचे की ओर देख रहा था, जूते से ठुकरा कर वह धरती पर बनी मेड़ को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहा था। जैसे उसे इन दो विस्तृत खेतों के बीच बनी मेड़ का अस्तित्व सह्य नहीं। उसने दृष्टि उठाई तो चिन्ता के अधरों के कोने जरा खिंच गए। जुगाई को चिन्ता की यह मुस्कान बड़ी मधुर प्रतीत हुई।

चिन्ता के पाँव हिल गये तो निरंजना पार्श्व में आ चुपके से बोली—

"तुम्हारी ही ओढ़नी तो यह है।"

"हाँ वैसी ही है।" चिन्ता ने निश्वास दबाते हुए उत्तर दिया?

"वैसी ही नहीं जी; वही है।"

"हो सकती है।"

"पूछो न।"

"और अगर न हुई तो?"

"न हुई तो न सही, पूँछने में क्या हानि है!"

"जाने भी दे हम नहीं पूछेंगे।" [illegible] उत्तर दिया। और जल्दी-जल्दी आगे पाँव रखने लगी। [illegible]

आगे उनमें बातें न हो सकीं पर [illegible] में उथल-पुथल मची थी। कुछ दूर जाने पर चिन्ता ने [illegible] की ओर देखा तो जुगाई को उसी प्रकार अपने [illegible]

[illegible] रहना

तो अभी [illegible]

भी कोई बात है ? वह तो इस प्रकार कभी भी खड़ी नहीं रह सकती।

पर कौन कहे कि चिन्ता तुझे भी तो लगता है कि क्षणभर खड़ी हो, कोई धुँधला सा चित्र निहार ले। जुगाई कोई चित्र ही तो निहार रहा था, उसे प्रतीत होता था जैसे भविष्य उसमें रंग भर रहा हो।

जब वे दूर चले गए तो जुगाई ने एक निश्वास ली और फिर वह भी बाग की ओर चल पड़ा। जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति उसे उस ओर को खींचे लिए जा रही थी। एकबार उसके मन ने कहा भी कि वह बेकार ही उधर जा रहा है। आखिर उधर उसका काम ही क्या है ? पर एक बार चिन्ता को देख लेने के लिए उसका मन विकल हो उठा था। अपने विचारों में ही उलझता-सुलझता वह आगे बढ़ा जा रहा था। बाग निकट आगया तो सहसा उसे ध्यान आया। बाग के भीतर वह जा नहीं सकता। फिर तो यह एक समस्या है कि चिन्ता को देखने की उसकी अभिलाषा पूरी कैसे हो। एक बार मन में आया कि वह उलटे ही लौट जाय परन्तु वह लौट नहीं सका। बाग के फाटक के निकट जा वह चहारदिवारी के बगल से जाती हुई पगडण्डी पर चलने लगा।

दक्षिण की ओर की चहारदिवारी का कुछ भाग गिर गया था। बाबू साहब ने अभी तक उनकी मरम्मत नहीं कराई है। माली ने उसे बबूल और बेर की छोटी-छोटी कँटीली शाखाओं से रूँध दिया है कि कोई जानवर न आ सके। जुगाई जाकर उसी के निकट खड़ा हो गया। उसकी आखें बाग के भीतर कुछ खोज रही थीं।

चिन्ता आई तो अवश्य, पर बाग में आज उसका जी नहीं लग रहा था। वह अमरूद के एक घने वृक्ष के नीचे बैठ गई। इस पेड़ का अमरूद उसे बहुत पसन्द है! पर उसने ऊपर की ओर अपनी दृष्टि नहीं उठाई। शायद सोचा होगा कि यदि अमरूद पक गए होंगे तो पेड़ उसका भार सम्हाल कैसे सकेगा! वह अवश्य ही उसके

आँचल में गिर पड़ेंगे। यौवन पा जब हृदय के भाव परिपक्व हो उठते हैं तो बाहर आ अपना आधार खोजते ही हैं।

चिन्ता का मन भी उदास हो रहा था। उसे लग रहा था कि वह व्यर्थ ही बाग में आई। पर यह निरंजना भला क्यों मानती। उसे वह जबरदस्ती ही तो बाग में घसीट लाई।

पिता उधर आए तो उन्होंने पूछा—"चिन्ता तू यहाँ अकेले क्यों बैठी है?"

चिन्ता ने एक बार आखें घुमा कर देखा। दूर पर निरंजना फूल चुन रही थी। चिन्ता ने कहा—"बाबूजी आज मेरा जी अच्छा नहीं था, सिर में बड़ा दर्द हो रहा था पर निरंजना ही जिद करके हमें यहाँ घसीट लाई।"

बाबू साहब बहुत निकट आ गए। माथे पर हाथ रखकर उन्होंने देखा तो माथा उन्हें गरम लगा। बोले—"हाँ चिन्ता माथा तो तेरा गरम है बेटा, तू घर जा। रामदीन कहाँ है?"

"रामदीन तो चला गया।" चिन्ता ने उत्तर दिया।

बाबू साहब गम्भीर हो गए। शायद यही सोचने लगे कि चिन्ता को किसके साथ घर भेजें। चिन्ता ने भी शायद पिता के भाव समझ लिए हों। बोली—"घर तो मैं अकेली ही जा सकती हूं बाबू जी, पर निरंजना को यह अच्छा न लगेगा।"

बाबू साहब को जैसे सहारा मिल गया। उन्होंने कहा—"तू चली जा, निरंजना से मैं कह दूंगा कि तेरा जी खराब था सो चली गई। वह साथ मेरे आ जायगी।"

"अच्छा।" और कुछ सोचकर चिन्ता उठी। अपने घर जाकर वह कुछ देर शांति से रहना चाहती थी सो पिता का यह प्रस्ताव उसे पसन्द आ गया। उठ कर बाग के फाटक की ओर चल पड़ी।

कुमार ने झुकी टहनियों के बीच से झांक कर देखा तो चिन्ता फाटक की ओर बढ़ रही थी। उसे आश्चर्य हुआ। चिन्ता सिर झुकाए

बाहर की ओर बढ़ रही थी। फाटक खोल कर वह जब बाहर आ गई तो जुगाई ने सोचा कि वह अकेले ही घर जा रही है क्या ! आखिर इतनी जल्दी लौटने की आवश्यकता क्या थी ? जल्दी जल्दी चल कर वह भी फाटक की ओर आ गया। देखा चिन्ता कुछ दूर पर सिर झुकाए धीरे धीरे घर की ओर चली जा रही थी। चारों ओर शांति थी। बाग के भीतर चलती कुट्टी की गड़ाड़ी के कर-कर का स्वर उसके कानों में आ रहा था। पीछे-पीछे वह भी चलने लगा। पर चिन्ता इतने धीरे चल रही थी कि जुगाई को लगा कि इतना धीरे तो वह नहीं चल सकता।

चिन्ता ने एक बार सिर उठाया। मुड़ कर पीछे की ओर देखा। जुगाई आ रहा था। देख कर चिन्ता को हँसी आ गई। निरंजना कहती थी न कि 'प्रेम हो जाता है तो पागल सा पीछे पीछे दौड़ना पड़ता है।'—अरे वह यह क्या कह गई ! तो क्या उसे उससे प्रेम हो गया है ? नहीं यह नहीं हो सकता। वे तो एक दूसरे को जानते भी नहीं और बिना जाने फिर प्रेम हो कैसे सकता है।'

चिन्ता को शायद इतना ज्ञान ही नहीं है कि प्रेम परिचय की प्रतीक्षा नहीं करता। यह तो हृदय की बात है। आँखों की राह जब किसी का रूप अन्तर में उतर जाता है तो वहाँ अपने आप एक नई सृष्टि निर्मित कर देता है। इतना ही परिचय क्या कम है ?

चिन्ता मन ही मन सोचती रही। पर वह जैसे कुछ सोच ही नहीं सक रही थी। सभी बातें जो मस्तिष्क में आतीं, अधूरी अधूरी ही रह कर खो जातीं। सहसा उसे एक बात सूझी। बाग से लौटते समय वह अपने पसन्द के अमरूद सदा लाती है। इसीलिए घर से चलते समय वह एक रूमाल लाई थी। रुमाल उसने गिरा दिया और चलती रही।

जुगाई ने बढ़ कर रुमाल उठा लिया। पहले तो आँख भर वह उसे निहारता रहा फिर लम्बे पग चल कर वह चिन्ता के निकट आया

और बोला।

"यह आपकी रुमाल गिर गई थी।" उसका कंठ जैसे काँप रहा था।

चिन्ता रुक गई। मुड़कर उसने जुगाई की ओर देखा पर रुमाल लेने के। उसने हाथ न बढ़ाया, बोली—"हाँ मेरा ही है। आप बड़े इमानदार जान पड़ते हैं।"

सुनकर जुगाई के हँसी आगई। शायद आप सब को बेईमान ही समझती हैं। बोला, "इसमें इमानदारी की कौन बात है? आपकी चीज आपको ही दे रहा हूँ।"

"शायद मैं न होती तो आप इसके भी मालिक बन बैठे होते।" चिन्ता ने व्यंग किया।

बात जुगाई को बहुत बुरी लगी। बोला—"अपाने मुझे रुमाल उठाते देखा या नहीं यह तो मुझे नही मालूम पर किसी की चीज मैं इस तरह नहीं अपना लेता!"

इस पर चिन्ता जोर से खिलखिला कर हँस पड़ी। जुगाई आश्चर्य से उसे देखता रहा। अजीब है यह लड़की! दूसरा कोई अगर इतनी बातें कहता तो जुगाई शायद सह न सकता, लेकिन चिन्ता की बातों का उत्तर वह किसी प्रकार नहीं दे पा रहा था। हँसी रोक कर उसने कहा—

"ओह, शायद आप अपने को बहुत इमानदार समझते हैं?"

"जी।" इस बार तनिक तेज होकर जुगाई ने उत्तर दिया।

"और यह जनानी ओढ़नी ओढ़ने का आपको कब से शौक हुआ?" चिन्ता ने मुस्करा कर पूछा।

"यह!" जुगाई ने ओढ़नी का छोर हाथ में लेकर कहा।

चिन्ता ने फिर प्रहार किया—"जी हाँ, यही। आपकी तो शायद यह नहीं हो सकती।"

जुगाई के जी में तो आया कि वह कहदे कि हाँ यह उसी की है

पर वह पता नहीं क्यों कह नहीं सका। वास्तव में वह उसकी थी भी तो नहीं। यही सोच कर वह चुप रहा।

"दूसरे की ओढ़नी ले ली है और—"

"पर मुझे यह पता तो नहीं है कि यह किसकी है, नहीं तो उसे लौटा ही न देता।" जुगाई ने कहा।

"आपने पूछा भी था किसी से?"

हँसी आ गई जुगाई को, बोला—"सिर पर तो रखे रहता हूँ, जिसकी होगी अपने आप ही माँग लेगा।"

"और जो कोई न माँगे तो?"

"तो इसी तरह सिर पर रक्खे घूमता रहूँगा कि इसका मालिक देख ले।"

"इसका मालिक किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता। यह ओढ़नी अब जूठी हो गई। मालिक ने अब तुम्हें यह ओढ़नी दी, जाओ।"

परिहास में चिन्ता ये बातें कह तो गई पर शीघ्र ही उसे अपने पर आश्चर्य होने लगा। जुगाई के हाथ से रुमाय लें वह मुड़ कर आगे बढ़ी।

जुगाई आश्चर्य के मारे अवाक् था चिन्ता को जाते देख कर उसने बढ़कर पूछा—"यह ओढ़नी मालूम होता है, आपकी है।"

"जी हाँ।" मुड़ कर चिन्ता ने कहा।

"तो आप इसे लेती जायँ।" कंधे पर से ओढ़नी हाथ में ले चिन्ता की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा।

चिन्ता क्षण भर उसकी आखों की ओर देखती रही। जुगाई की उस समय की आकृति जाने क्यों उसे बड़ी मोहिनी सी लगी। उसी प्राकर गम्भीरता से उसने उत्तर दिया—"नहीं लेते ही जाओ।"

अब क्या करे जुगाई? उसी प्रकार बेचारा उसकी ओर टुकुर-टुकुर देखता रहा। चिन्ता चली गई पर जुगाई की आँखें उसके पथ की ओर ही जमी रहीं।

जब वह पगडण्डी मुड़ गई और चिन्ता की धुँधली छाया भी आँखों से ओझल हो गई तो उसके मुँह से अनायास ही निकला—"तुम्हारे इस देन को जीवन भर संजोकर रखूँगा।"

फिर वह घर की ओर चला गया।

— —

सात

उस दिन जब जुगाई घर आया तो उसके मस्तिष्क में रह रह कर चिन्ता का ध्यान हो आता। उसे चिन्ता का व्यक्तित्व अजीब ही लगा, यौवन में जैसे किसी अज्ञात लोक से चंचलता आ जाती है। चिन्ता भी कितनी चँचल है। किसी बात का उत्तर तो जैसे वह वर्षों पहले से ही सोच कर रखती है। देखो न, कहती है दुपट्टा जूठा हो गया। जो दिया उसे वापस नहीं लेती। मानों इस प्रकार उसने दान की चरम सीमा को छूकर ही दम लेने का संकल्प कर लिया है। पर जुगाई सोचता है कि जो भी चिन्ता ने उसे बताया कोई नई बात तो थी नहीं। जुगाई ने भी तो क्षण-भर की भेंट में उसे जो दे दिया है उसे वह कभी वापस न लेगा।

और ले भी कैसे? वापस लेने पर उसे ही एक पीड़ा, एक दर्द का अनुभव होगा। फिर कोई अपनी वस्तु देकर उसे क्षत-विक्षत लौटा ले भी तो क्यों? चिन्ता को उसने अपना सर्वस्व ही तो दे दिया है। दिया भी है वापस न लेने को, पर यदि चिन्ता ने उसकी यह भेंट स्वीकार न किया तो वह क्षत-विक्षत हुई अपनी भेंट लेकर ही क्या करेगा। जी में आया कि वह तुरन्त ही दौड़ कर चिन्ता के पास पहुँच जाय और उससे कह दे कि चिन्ता, तुमने जो दिया है, उसे तो तुम ले भी सकती हो पर मैंने जो दिया है वह कदापि न लूँगा। मेरे और तुम्हारे दान में अन्तर है।

पर नहीं, ऐसा भी कोई कहता है। जुगाई ने सोचा, वह पागल हो गया न, जो ऐसी अजीब बातें सोच रहा है।

भावुकता उसकी उभर आई। मन में जब कुछ चुभ जाता है तब एक टीस सी उठने लगती है। एक विचित्र सा दर्द जैसे प्राणों में बस जाता है। जुगाई को लगा—जैसे हृदय की यह व्यथा उस पर भार बन कर पड़ रही हो। प्राणों में एक सिहरन ले वह उठा और कमरे में टहलने लगा। बाहर शीत अधिक थी पर उसे जैसे इसका कुछ अनुभव ही नहीं। रात्रि का अँधकार सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त था। जैसे एक गहरी सी कालिमा धरती पर छा रही हो कि उसमें समस्त जगती अपने हृदय की कालिमा धो डाले। बाहर पेड़ों से उतर कर यह छाया धरती पर गिर पड़ी जिससे फूट कर काली-काली बिखर गई थी।

वह सोचने लगा—'उसने सावन में नभ से घनघोर घटा बरसते देखा है। छोटी-छोटी बूँदें मिल कर एक धार सी बना देती हैं। और यह अंधकार भी तो रात होते ही आकाश के विस्तृत शून्य से बरसने लगता है। अंधकार की यह वर्षा शायद किसी ने देखी न होगी और उसने भी तो नहीं देखा। पर आज अपने में वह कैसा परिवर्तन पा रहा है, तभी तो रात का यह बरसने का तरीका भी उसे अच्छा लग रहा है।

बाहर आंगन में खट् की आवाज हुई चौंक कर उसने अँधकार में ही मुँह फेर कर कुछ देखने का प्रयत्न किया। अपने कमरे में वह अकेलेही सोता है। आँगनके उस पार कमरेमें माँ रहती हैं। इसके पहले सदा ही वह माँ के कमरे में सोया करता था। पर अब कुछ दिनों से वह अलग कमरे में सोने लग गया है। माँ ने भी इस पर कोई आपत्ति नहीं की। पर माँ को शायद जुगाई को अकेले कमरे में छोड़ने में सन्तोष नहीं होता। रात को दो-एक बार वह उसके कमरे में अवश्य आती है और उसकी रजाई इत्यादि ठीक करके चली

जाती है। सोचा इस समय भी माँ ही होंगी सो उसे इस पर हँसी आ गई। अंधकार में ही उसके ओंठ खिंच गए। अज्ञात में ही उसे अधरों के खिंचाव का अनुभव हुआ, जब ओले सी शीतल हवा ने दाँतों को छू लिया। झट वह लपक कर खाट पर लेट गया। रजाई उसने अपने ऊपर डाल ली। माँ शायद आ रही थीं।

माँ की प्रतीक्षा में उसके क्षण देर में बीत रहे थे। शायद जब प्रतीक्षा होती है तो समय की घड़ियाँ सुस्त चलने लगती हैं। नहीं तो भला कहीं क्षण भी इतने लम्बे होते हैं! पर क्या पता, हो भी सकता है। इसके पहले तो कभी उसने क्षण की लम्बाई नापने की कोशिश भी नहीं की थी।

जान पड़ा जैसे बहुत दर हो गई है पर माँ अभी तक नहीं आई। हो सकता है वह उसका भ्रम रहा हो। नहीं तो चारपाई पर आए उसे आधा घंटा तो अवश्य ही हो गए होंगे। यह आधा घंटा होता ही कितना है। 'अभी कल ही तो वह जब बाबू साहब के बाग की ओर गया था तब दोपहर ही थी, पर जब वह लौट कर आ रहा था तब नवनीत मिला था। बोला था—"अरे दोपहर का निकला-निकला तू अब लौट रहा है?"

शाम होने को थी सो उसने आश्चर्य से उसकी ओर देखा—"आँय? शाम हो गई?" तो क्या शाम होने में इतना ही समय लगता है। उसका विचार था कि अभी घंटा भर भी न हुआ होगा। पर यहाँ तो कई घंटे लग गए। शायद समय की घड़ी तेज चल गई होगी। सोच कर उसे हँसी आ गई। चारपाई पर अब अधिक पड़ा रहना असम्भव हो गया था सो वह उठ कर खड़ा हो गया।

तभी सहसा किसी से वह टकरा गया। आश्चर्य और डर से उसके मुँह से चीख निकल गई। माँ ने कहा—"क्या हुआ रे जुगाई?"

जुगाई को अपने ऊपर बड़ी लज्जा आई। माँ को देख कर वह

डर गया। माँ को आने में इतनी देर क्यों लगी! वह बोला—
"माँ!"

"तू खड़ा क्यो हो गया, रे?" माँ ने पूछा।

अब जुगाई क्या उत्तर दे। लेट तो वह अवश्य ही गया था पर समय की घड़ियाँ ही सुस्त हो गई थीं।

माँ ने समझा कि जुगाई सपने से चौंक उठा है। बचपन में तो वह बहुधा सोते-सोते चौक उठता था। माँ को जुगाई की बात अभी भूली नहीं थी। सो सोचा—जुगाई चौककर जागा है। माँ ने पूछा—

"जाग रहा था क्या?"

"न—हाँ।" जुगाई ने कुछ अस्पष्ट सा उत्तर दिया।

"सो जा अब, बड़ी रात बीती।"

जुगाई फिर लेट गया। माँ ने रजाई उसे उढ़ा दी और कमरे से बाहर चली गई।

माँ के जाने के बाद भी जुगाई बड़ी देर तक सोचता रहा। उसे नीद नहीं आ रही थी। चिन्ता की आकृति अन्धकार से उभर कर उसकी आखो के सन्मुख आ जाती। उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था। जीवन में अभी तक उसने किसी को प्रेम नहीं किया पर यह चिन्ता जाने कैसे उसके अन्तर में प्रवेश कर गई है। वह जानता है कि चिन्ता का प्रेम उसके लिए लब्ध कभी न हो सकेगा। परन्तु फिर भी वह अपने को उससे भुला नहीं पा रहा है। बाबू साहब सम्पन्न हैं। जुगाई के पास अब हैं ही क्या? पर क्या प्रेम के मार्ग में धन बाधक हो सकता है? यौवन अधिक भावुक होता है। जुगाई को लगा जैसे यह विभिन्नता उसके प्रेम के मार्ग में बाधक नहीं हो सकती।

नहीं हो सकती। पर क्या चिन्ता पर भी उसके प्रेम का कोई प्रमाण तो उसे अभी तक मिला नहीं। उस दिन आकर्षण हो गया। कहते हैं प्रथम दृष्टि का प्रेम कभी असफल नहीं होता। पर वह सफ-

लता की आशा किस बात पर करे !.......किन्तु नहीं चिन्ता ती उसे प्रेम करती है। एकबार सहसा उसे झटका सा लगा, वह सचेत हो उठा। चिन्ता प्रेम करती है? चिन्ता के प्रेम का कौन सा चिन्ह उसने पाया। पर जो एक बार कोई चीज देकर वापस न लेता हो वह?........ पर चिन्ता ने दिया ही क्या?

अँधेरे में टटोल कर उसने खूंटी पर से चादर उठा ली। क्षण भर उसकी ओर विस्फरित नेत्रों से देखने का प्रयत्न करता रहा। मानो वह अँधकार में भी वस्तु देख लेता है। फिर अधरो से लगा कर उसे चूम लिया।

उन जलते अधरों को कितनी शान्ति मिली। थोड़े देर तक वह उसी प्रकार उसे अधरों से लगाए रहा। फिर छाती पर उसे रखकर वह लेट गया। उसे लगा जैसे अंधकार में वह चादर बदलती जा रहीं है। जैसे उसमें किसी युवती के तन की उष्णता प्रवेश करती जा रही है। कितनी कोमल, चिकनी! उसे लगा जैसे वह चिन्ता के सुकोमल शरीर पर हाथ रक्खे हो। प्रेम की चरम सीमा में जब आत्म.विस्मृत मनुष्य के हृदय में बैठ जाती है तो वह प्रिय का वियोग भी संयोग बना देता है। जुगाई को निशा के यह काले क्षण कितने सुखदाई. प्रतीत हुए यह वह नही कह सकता। कब तक वह संयोग के इन क्षणो में भूला रहा, इसका उसे ज्ञान नहीं। फिर आँखे मुँद गई; नींद भी आ गई पर सपने मधुर-मधुर हो उसका मनुहार करते रहे।

प्रातः, नींद उसकी देर में खुली। उठकर उसने देखा कि चादर उसके वक्षस्थल पर उसी प्रकार धरी हुई है। उसे रात की बात सोच-कर अपने ऊपर हँसी आई। चादर उसने उठकर तहाकर खूँटी पर रखदी। फिर अँगड़ाई लेकर मानो रात की खुमारी कमरे में ही छोड़ वह बाहर निकला।

उस दिन माँ को व्रत रहना था। रविवार को माँ व्रत रहती हैं। तुलसी की पूजा करती हैं। माँ कहती हैं कि तुलसी के इस पौधे में

मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण करने की बड़ी भारी शक्ति नीहित है। पर माँ की अब इच्छा बची ही क्या है ? वह चाहती है कि अपने जीवन में ही वह बहू को देख ले। पर ब्याह की बात तो कहीं हो ही नहीं पाती। माँ नहा धोकर तुलसी के चबूतरे पर सिर टेके पड़ी थीं। जुगाई ने यह देखा तो उसे लगा कि माँ की इतने दिनों की पूजा-आराधना अब सफल हो जाएगी। चिन्ता से अच्छी बहू उसे मिल कैसे सकती है ! पर क्या मालूम चिन्ता जब उसकी हो सके तब न !

जुगाई क्षण भर माँ को सिर टेके देखता रहा। जब माँ ने गीली मिट्टी हाथों में ले श्रद्धा से अपने मस्तक पर लगा लिया तब वह भी पास ही आकर खड़ा हो गया। माँ ने देखा कहा—"अरे तू जग गया, ले टीका लगा ले।"

जुगाई ने सिर झुकाए-झुकाए मन ही मन कहा "चिन्ता—"। पर आगे वह देवी के सम्मुख कुछ कह नहीं सका। शायद प्रेम की बात कोई पाप है। फिर देवी देवता के सम्मुख भला कोई पाप का वरदान माँग भी कैसे सकता है !

एक निश्वास ले वह माँ के पास खड़ा हो गया। पर उसकी दृष्टि तुलसी के उस हरे-भरे पौधे पर लगी थी। उसकी हरी-भरी पत्तियाँ हवा में डोल रही थी। जुगाई को लगा जैसे तुलसी का वह छोटा सा पौधा विशाल हो उठा है और देवी का रूप धारण कर लिया। फिर अपने हाथों में चिन्ता का हाथ ले जुगाई की ओर बढ़ा दिया।

जुगाई कांप गया। जैसे लगा कि देवी का यह दान वह सम्हाल कर कैसे रख सकेगा ! माँ आगे बढ़ गई थी, मुड़कर जुगाई को देखा तो बोलीं।—"जुगाई चल न।"

मन्त्र-मुग्ध सा जुगाई माँ की ओर घूम गया। तुलसी की पत्तियाँ अब भी उसी प्रकार हवा में डोल-डोल कर जुगाई का जैसे परिहास कर रही थीं।

माँ ने रसोई घर से रात का खाना निकाला और जुगाई को दिया। पर उसकी जैसे खाने की इच्छा ही नहीं थी। थोड़ा ही सा खाकर वह उठ गया। माँ ने पूछा—"क्यों जुगाई! तू पंडित काका के यहाँ इधर गया था?"

जुगाई को जैसे कुछ स्मरण हो आया। बोला—"उस दिन गया था, पर तब से तो नहीं गया माँ। आज जाऊँगा। पंडित काका सच-मुच बहुत बीमार हैं।"

"हां देख आना बेटा।" माँ ने कहा और और अपने काम में लग गई।

जुगाई घर से निकला ही था कि गाजी के कुएँ के पास पहुँचते ही नवनीत मिल गया। जुगाई को देखते ही बोला—"जुगाई तुम्हें मैं आज खोज ही रहा था।"

"तो क्या यहाँ कुएँ पर!"

"सोचा शायद........।"

"शायद क्या? क्या समझता था कि कुएँ पर मैंने आत्महत्या कर ली है?" जुगाई ने हँसकर बात काटते हुए कहा।

"नहीं यार तुम्हें तो हर समय दिल्लगी ही सूझती है। चल इधर आ।"

दोनों खेत की ओर चल दिए। सरसों के पीले फूलों की कतार जहाँ समाप्त होती है, वहाँ एक टीला है। असाढ़ की फसल में रघुआ उस पर बाजरा बोता है पर चैती फसल उसमें कुछ नहीं होती सो टीला शून्य को निहारता, अपने भाग्य पर कुढ़ता पड़ा रहता है। ऊपर बीचो-बीच में बबूल का एक वृक्ष खड़ा है जो अपनी छितरी छाया से टीले के वृक्षस्थल को छिपाने का असफल प्रयत्न करता रहता है।

नवनीत जुगाई के साथ जा टीले पर बैठ गया। जाड़े की धूप उनके ऊपर पड़ रही थीं। नवनीत ने कहा—"जुगाई देख, क्या उससे

भेंट हुई थी।

"किससे ?"

"अरे तू नहीं समझा !"

क्षण भर को जुगाई ने नवनीत की ओर देखा, फिर जैसे उसकी समझ में बात आ गई हो, बोला—"अच्छा तो मेरी—?" बीच में ही दोनों फूटकर हँस पड़े।

"हाँ तो ?" जुगाई ने कहा—

"हम दोनों यहीं आकर बड़ी देर तक बैठे बातें किया करते थे।"

"क्या बातें ?"

"पागल यह भी कोई बताता है।"

हँसी आ गई जुगाई को। प्रेम में भला दो हृदय ऐसी कौन सी गुप्त बात करते हैं जो बताई नहीं जा सकती। कोई हत्या का षड़यन्त्र तो होता नहीं।

नवनीत ने फिर कहा—"चाँदनी खिली थी-एक बार।"

"अरे रात में यहाँ बैठा रहा और सर्दी नहीं लगी।" जुगाई को आश्चर्य हो रहा था।

"प्रेम में कुछ सर्दी गर्मी नहीं लगती।"

जुगाई कुछ सोचने लगा फिर बोला—"नवनीत तू माघ नहाने प्रयाग गया है या नहीं ?"

"हाँ"

"वहाँ देखा जाने कितने भिखमँगे ठिठुरते जाड़े में भी नंगे बदन पड़े रहते हैं। प्रेम करते होंगे तभी तो उन्हें जाड़ा गर्मी नहीं लगती।"

वाह रे जुगाई! कहाँ की बात कहाँ आ पटकता है। कहा—"प्रेम करने वाले भिखमँगे नहीं होते, राजा होते हैं राजा ?"

"समझा", जुगाई ने कहा—"अरे अब तू तो राजा हो रहा है न! कब तक हो जायगा ?"

"तू तो है पागल, क्या जाने प्रेम क्या होता है ?"

"अच्छा तू ही बता दे, क्या है ?"

"सुन, पुराण में एक कथा है—भगवान ने प्रजापति को पृथ्वी पर भेजा, तो यहाँ सब कुछ था। पेड़ थे, पौधे थे, खाने को फल-मूल थे। वन में पशु थे, पेड़ों पर पक्षी रहते थे। पर कोई मनुष्य न था। सो प्रजापति अकेले ही घूमा करते थे। बिना किसी साथी के उनका जी भी न लगता था। तू ही सोच भला किसी साथी के बिना कोई कैसे रह सकता है।

"क्यों, गाय-बैल पाल लेते।"

"चुप रह बिना मतलब की बात करता है। हाँ सुन,—तो प्रजापति को अपने तरह के ही एक मनुष्य की आवश्यकता पड़ी जिसके साथ वे अपना समय काट सकते।"

"तो क्या किया ?" जुगाई को नवनीत की इस कहानी में आनन्द आ रहा था।

"तो उन्होंने शरीर के दो टुकड़े कर डाले। आधा शरीर उनका स्त्री का हो गया, आधा पुरुष का। तभी तो, एक शरीर के दो खंड होने के कारण वे सदा एक हो जाने के लिए विकल रहते हैं। फिर उन्हीं दो शरीरों ने मिल कर सृष्टि की रचना प्रारम्भ की। पर स्त्री-पुरुष अलग-अलग ही रहने लगे। इसीलिए अलग होते भी हैं। आज तक वे दोनों इसीलिए एक हो जाने को विकल रहते हैं। उसी विकलता को हम 'प्रेम' कहते हैं।"

नवनीत ने अपनी बात इस प्रकार गम्भीरता के साथ समाप्त की जैसे कोई बड़ा महात्मा अपना व्याख्यान समाप्त करके दर्शकों की ओर निहारता है कि उसकी बातों का प्रभाव जनता पर पड़ा।

जुगाई नवनीत की बात बड़ी ध्यान से सुन रहा था। उसकी आँखों में गम्भीरता के बादल छा रहे थे। थोड़ी देर तक तो वह चुप रहा फिर सहसा बोला—"नवनीत मैं भी प्रेम करने लगा हूँ।"

नवनीत जुगाई से चिपट गया, बोला—"तू भी प्रेम करता है!

सच पर किससे ?"

जुगाई उसी प्रकार अडिग, गम्भीर बनकर बोला—"चिन्ता से।"

"चिन्ता, कौन चिन्ता ?"

"बाबू साहब की लड़की।"

नवनीत जैसे आकाश से गिर पड़ा बोला—"बाबू साहब की लड़की ! जुगाई पागल तो नहीं हो गया है ?"

"क्यों ?"

'और वह ?"

"पता नहीं वह प्रेम करती है या नहीं।"

नवनीत थोड़ी देर सोचता रहा फिर बोला—"जुगाई ऐसे को हृदय देकर तूने भूल की !"

"क्यों ?"

"प्रेम प्रतिदान चाहता है और चिन्ता से तुझे प्रतिदान न मिलेगा, यह तय जानो।"

अब तक जुगाई की भावुकता उभर आई थी, बोला—"मेरा प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता।"

"और फिर बाबू साहब का परिवार तो तेरे परिवार का सदा से शत्रु रहा है।"

"शत्रु ! क्यों ?" जुगाई ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ, एक दिन पंडित काका कह रहे थे कि तेरे बाबा इस गाँव के जमींदार थे। तब इन बाबू साहब का परिवार इतना धनी नहीं था। बाबू साहब के पिता ने तेरे बाबा को धोखा देकर सारा गाँव अपना लिया और तू गरीब हो गया।"

जुगाई कुछ देर सोचता हुआ बैठा रहा फिर उठते हुए बोला—"चल नवनीत, पंडित काका को देखने जाना है, माँ ने कहा था।"

"चल !"

और वे दोनों ही उठ खड़े हुए।

आठ

दो दिन से आसमान में बादल छा रहे थे। आज बूँदा-बूँदी भी प्रारम्भ हो गई है। प्रातः से ही आकाश के बादल सिमिट-सिमिट कर बरसने लगे। जुगाई ने एक बार आकाश की ओर देखा—यह नील नभ, मनुष्य के हृदय सा ही तो होता है। कितना विस्तृत! और जब इस पर बादल छा जाते हैं तो उनकी काली छाया संसार में अस्पष्ट होकर व्याप्त हो जाती है। जाड़े के दिन में यह वर्षा जुगाई को कभी अच्छी नहीं लगी। पानी बरस गया तो शीत बढ़ गई। हवा जैसे शरीर को छूकर वेध देना चाह रही हो। सो जुगाई दिन भर घर में ही बना रहा। बाहर वह नहीं निकला।

शाम को बादल छँट गए। सूर्य की किरणें धरती पर लोटने लगीं, पर पानी से भींगे पृथ्वी के आँचल को वे सुखा नहीं पा रही थीं। दिन भर घर में पड़े-पड़े जुगाई का जी ऊब गया था। बाहर सर्दी अधिक थी, इसलिए बाहर निकलने की भी हिम्मत नहीं हो रही थी। माँ ने कहा—"जुगाई बाहर मत जाना, सर्दी बहुत है, कहीं तुझे शीत न लग जाय।"

यह माँ! जुगाई की इसे कितनी चिन्ता रहती है। जैसे अपनी देख-भाल वह स्वयम् नहीं कर सकता। उसने कहा—"अच्छा।"

पर घर में वह लेटा नहीं रह सका। माँ पड़ोस में किसी के यहाँ गई तो जुगाई ने कपड़े पहने और चादर कान में लपेट कर बाहर

निकला।

खेत में खड़े पौधे वर्षा से धुल गए थे, सो उनकी हरीतिमा और अधिक गहरी हो उठी थी। सरसों के फूल की पंखुड़िया धुल कर भूमि पर लोट गई थीं। उनका पराग समीरण में मिल कर जुगाई के नासा-पुटों में भर रहा था। जौ के पौधे शीत में काँप रहे थे। जुगाई को प्रकृति का यह .स्नाना सौंदर्य बहुत ही आकर्षक प्रतीत हुआ। जुगाई धीरे-धीरे चलता हुआ दूर निकल गया। गाँव बहुत पीछे छूट गया था। दूर से गाँव के मकान धुँधले, धुआँ की तरह दिखाई पड़ रहे थे। पर जुगाई बराबर आगे बढ़ता ही जा रहा था।

यहाँ पर गाँव की सीमा समाप्त होती है। एक नदी इस गाँव की सीमा को छूकर बहती है। केवल वर्षा के दिनों में इसमें पानी रहता है और वर्षा के।समाप्त होते ही सूख भी जाती है। तल की बालू हवा में उड़ने लगती है। आज पानी बरस गया तो शुष्क नदी का यह तल भी एक बार सरस हो उठा। धरती से सुगंधि उठ कर समीरण में बह रही थी। जुगाई आकर नदी के तट पर बैठ गया.। ठँडी-ठँडी हवा में उसके दाँत एक बार किटकिटा उठे पर वह उसी प्रकार बैठा रहा। धीरे-धीरे जैसे शरीर में गर्मी आने लगी। शीत का अनुभव भूलने लगा और वह शाँत होकर बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद उसने अपनी दृष्टि ऊपर उठाई, चारों ओर देखा। कुछ दूर पर उसे दो स्त्रियाँ दिखाई पड़ीं। नयनों में जो प्रति क्षण बसा रहे उसे पहचानने में कोई भूल कैसे करे! जुगाई ने पहचान लिया—एक चिन्ता थी। पर वह दूसरी कौन हो सकती है! तभी सहसा ध्यान आया उस दिन भी तो उसके साथ एक लड़की थी। सो यह वही होगी। जान पड़ता है बाबू साहब के यहाँ कोई बाहर से अतिथि आया है। अतृप्त सी चितवन से वह उसे निहारता रहा। तभी उसे लगा जैसे दोनों ही स्त्रियाँ उसकी ओर निहार रही हैं। शरीर में एक प्रकार का कम्पन दौड़ गया। वह झटपट उठकर खड़ा हो गया पर

देखा कि वे स्त्रियाँ उसे निहारना छोड़ कर एक ओर को जाने लगीं। वह फिर अपने स्थान पर बैठ गया। तभी दोनों लड़कियों ने अपना साथ छोड़ दिया। चिन्ता टीले की ओर मुड़ चली और उसके साथ वाली लड़की नदी की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

जुगाई को आश्चर्य लगा—आखिर यह चिन्ता जा किधर रही है। आज तक उसने चिन्ता को गाँव के बाहर अकेले में घूमते नहीं देखा। पर हो सकता अपने इस सहेली के खातिर वह घूमने निकल आई हो। वह उसी प्रकार खड़ा मन्त्र-मुग्ध सा देखता रहा।

जहाँ वह खड़ा था उससे थोड़ी दूर पर ही नदी का किनारा बहुत ऊँचा हो गया है। यदि चिन्ता और आगे बढ़गी तो वह टीले की ओट में अवश्य छिप जायगी। जुगाई के पाँव अपने आप उठ गए और वह टीले की ओर चलने लगा। सरपत की झाड़ों ने चिन्ता को अपने में छिपा लिया। पर जुगाई की आंखों से चिन्ता को कोई नहीं छिपा सकता। वह एक ही ध्यान से चिन्ता की ओर बढ़ रहा था।

सरपत के पौधों को पार कर जब वह बाहर आया तो देखा—चिन्ता उसके आगे-आगे नदी की ओर बढ़ रही है। सरपत के पौधों में सरसराहट सुन कर वह एकदम से चौंक पड़ी और मुड़ कर पीछे की ओर शंकित निगाह से देखा। जुगाई को देखा तो उसका डर जाता रहा—एक बार वह मुस्करा पड़ी और कहा—"तुम हो, मैंने समझा—"

बड़ी हिम्मत के बाद उसने यह कहा था। मुस्कान से उसके ओंठ विस्फरित हो उठे।

"क्या समझा तुमने?" जुगाई ने धैर्य के साथ प्रश्न किया।

"सुना है इस झाड़ी में सुअर बहुत आते हैं।"

जुगाई को हँसी आ गई। बोला—"पहले तो आते थे पर जब से शिकार होने लगा है तब से—"

इसके आगे वह नहीं कह सका। चिन्ता ने जो आखें उठा कर

उसकी ओर ताका तो वह सहम कर रह गया। लगा जैसे उसके मुँह से कोई अनुचित बात निकल गई हो। चुपचाप दीन-हीन सा वह उसकी ओर देखता रहा।

चिन्ता ने सहसा पूछा—"उस दिन तुम वहाँ खड़े क्यों रह गए थे?"

"कहाँ?"

"जहाँ तुम मुझे पहली बार मिले थे।"

"पहली बार?" जुगाई को यह शब्द अमृत सा लगा, बोला "—पता नहीं।"

"अच्छा, तो तुम जो करते हो क्या उसका भी तुम्हें पता नहीं रहता।"

"रहता क्यो नहीं?"

"फिर बताओ, क्यों खड़े थे।"

"पर बताने की बात हो तब न। शायद सोच रहा था कि किधर जाना चाहिए।"

"और इस समय भी शायद यही सोच रहे होगे?"

जुगाई सकपका गया। क्षण भर चुप रहकर वह बोला—"नहीं तो।"

"तो फिर जहाँ जाना हो जाओ।"

"मुझे जाना तो कहीं नहीं है।"

"तो यहाँ क्यों आए?"

कैसे कह दे वह कि तुम्हें ही देखकर तो चला आया हूँ। पर अनजाने में ही शायद आखों ने सब कुछ कह दिया। जिसे चिन्ता ने बिलकुल स्पष्ट पढ़ लिया। बोली—"तुम मुझे देख कर यहाँ आए हो?"

जुगाई चुप रहा!

"बोलो।" शासन के स्वर में चिन्ता ने कहा।

"हाँ।"

"क्यों।"

"यह तो नहीं कह सकता पर—।"

"पर क्या।"

"तुम बुरा तो न मानोगी?"

कुछ देर शान्ति रही फिर चिन्ता ने मुस्करा कर पुरखिन की तरह कहा "तुम्हारा शरीर पुरुष का है पर हृदय स्त्री का।"

"क्या, हृदय स्त्री का?"

हाँ, सचमुच ही तो उसका हृदय स्त्री का है। वह चिन्ता के सम्मुख आते हुए कितने संकोच का अनुभव करता है। और बिना देखे या सम्मुख आए भी तो उससे रहा नहीं जाता।

थोड़ी देर तक शांति रही फिर चिन्ता से कहा—"तुम्हें मालूम है, मेरे परिवार से तुम्हारे पिता की सदा लड़ाई रही है।"

"हाँ कुछ-कुछ मालूम है।"

"तो तुम भी क्यों नही समझते कि मैं भी तुम्हारी शत्रु हूँ।"

शत्रु! चिन्ता किसी की शत्रु हो सकती है यह जुगाई कैसे विश्वास करे? उसने कहा—"तुम नहीं हो सकती, शत्रु।"

चिन्ता इस पर चुप रही। जुगाई को देखकर इस समय उसे आश्चर्य हो रहा था। चिन्ता ने कहा—"देखो अगर मेरे पिता को यह ज्ञात हो गया तो बहुत बुरा होगा।"

"क्या?" जुगाई ने अबोध की भाँति पूछा।

"यही कि तुम यहाँ हमसे मिले हो।"

जुगाई चुप रहा तो चिन्ता से पुनः पूछा—"तुम झूठ बोलना जानते हो?"

झूठ बोलना भी कोई गुण है यह जुगाई ने कभी नहीं सोचा था पर शायद प्रेम करने के लिये यह भी आवश्यक हो। उसने पूछा, "क्यों"?

"क्यों कि मैं झूठ बोल सकती हूँ"

जुगाई इस पर चिन्ता को घूरने लगा। प्रशंसा से या घृणा से यह उसे स्वयं नहीं मालूम।

"घर जाकर हमें यह बताना पड़ेगा—देर जो हो गई है।" चिन्ता ने कहा और मुड़ कर वह जाने लगी।

जुगाई का हृदय सहसा जी की बात कह गया—

"क्या फिर कभी मिलोगी?"

"क्यों?" चिन्ता ने उसकी ओर मुड़ कर पूछा।

अब भला जुगाई इसका क्या उत्तर दे सो कहा—

"यों ही पूछा।"

चिन्ता थोड़ी देर तक उसकी ओर देखती रही फिर कहा—"अच्छा फिर मिलेंगे।"

"कब?"

"कल।"

"कहाँ?"

"बाग में।"

और वह अपनी राह चली गई। जुगाई वहीं खड़ा बड़ी देर तक निहारता रहा। उसे लगा कि मानों वह चिन्ता सरिता तट की समस्त प्रकृति में व्याप्त हो गई हो जैसे कांसे के वह झंखाड़ चिन्ता का रूप धारण कर उसे अपनी ओर बुला रहे हों। वह ऊँचे से टीले पर बैठ गया। नीचे दूर पर सरिता का जल बह रहा था। जीवन में घटनाएं घट जाती हैं, सरिता में पूर आ जाता है पर सरिता की गति बराबर एक सी ही रहती है। जुगाई सरिता के इस प्रवाह को निहार रहा था। उसने सोचा—उसका जीवन भी तो एक प्रवाह है जो एक पहाड़ी नदी की भाँति किसी अगाध सागर में विलीन हो जाने को बहता जा रहा है। पर उसमें कहीं भी तो पूर नहीं आता। कहीं भी हो वह बिखर कर अपने कूल काट देने को नहीं बढ़ाता? स्त्रियाँ ही ठीक हैं, जो अपने कूल में ही सीमित रह कर बहना जानती हैं।

उसकी भावुकता उभर आई थी। वह चिन्ता उसके हृदय में समाकर रहना चाहती है। उसे तो लगा था कि वह चिन्ता को बहुत कुछ

कहे। बहुत कुछ। पर सोचकर भी वह कुछ नहीं कह सका। चिन्ता को देखकर पता नहीं कौन उसकी वाणी पर अधिकार जमा लेता है, जो वह कुछ कह ही नहीं पाता। वह उद्विमान सा हो उठा। सरिता का कल कल गान उसमें संगीत की सृष्टि करने लगा। अन्तर की भावुकता उभर कर निस्सीम को चीरने को विद्रोह कर उठी। कण्ठ से वाणी फूट पड़ी। संगीत का स्वर लहरा उठा—

नभ के तारो जल में उतरो ?
नीले पट के अवगुंठन से.
झाँक रहे लहरों के कम्पन;
शशि की किरणों के अँचल में
अपनी छवि विखेर कर उन्मन,
प्रिय की खोजो, नभ में विचरो।

जुगाई गा रहा था—

पाकर अपने प्रिय को सम्मुख
मन की व्यथा न कह पाओगे,
उषा की लाली में छिपकर
अपने में ही मिट जाओगे,
उर में क्यों फिर आस भरो ?

जुगाई चुप होगा। उसका व्यथा भरा स्वर जैसे समस्त नभ में व्याप्त हो गया हो। सन् सन् करती हुई हवा उसे तीर सी लगी तो उसने सचेत हो नभ की ओर निहारा।

अरे वाह! सचमुच ही तो ये तारे जल में उतर आये हैं। लहरें उनसे खेल रही हैं। तो जुगाई वहाँ कितनी देर तक बैठा रहा ? रात हो गई। घर जायगा तो माँ पूछेगी कि कहाँ गया था। इतनी रात गये घर वह कभी नहीं गया। माँ कितनी चिन्तित होगी।

तभी उसे लगा मानों अंधकार के पीछे से अवश्य क्षितिज पर खड़ी चिन्ता कह रही हो—तुम झूठ बोलना जानते हो....

हाँ, वह बोलना कहाँ जानता है ? पर वह माँ से सत्य भी तो न कह सकेगा कि वह वहाँ बैठा था। माँ भला क्या कहेंगी। उसे अजीब सा लगा।

अब माँ से कोई बहाना बनाना होगा। यही सोचता हुआ वह घर को चल पड़ा।

घर के पास आया तो रामहरख मिल गया। जुगाई ने उसे देख कर पूछा—"कहो राम हरख काका किधर चले ?"

"कौन जुगाई ! अरे, तू किधर से आ रहा है ?"

"कहीं से नहीं काका, मैं तो घूमता-घूमता यों ही इधर निकल आया था।"

"हाँ मेरी भैंस आज शाम को घर नहीं लौटी, सो उसी को खोजने निकला हूँ।"

"घर के सब जानवरों के साथ आई होगी न ! जुगाई ने पूछा।

"चरवाहा तो कह रहा था कि जब उसने सड़क से गाँव के जानवरों को इस ओर हँकाया था तब वह भैंस भी थी।"

"तो फिर गाँव में आकर कहाँ जायगी। यहीं कहीं चरती होगी।"

"हाँ, पर मैं तो सब जगह देख आया।"

'काका यह समैया है बड़ा चालाक। उस दिन सुना नहीं, नवनीत की गाय वह कछार में ही छोड़ आया और यहाँ आकर कह दिया कि मैं क्या जानूँ मैंने उसे भी और जानवरोंके साथ गाँव पहुँचा दिया था।

"हाँ जुगाई हमें भी यही जान पड़ता है कि भैंस अभी कछार से लौटी नहीं।"

"जरूर न लौटी होगी।"

"और हमें दिखाई भी कम देता है, रात में खोजना बहुत कठिन है।"

"तो इसमें क्या बात है काका, चलो न मैं साथ चला चलता हूँ।"

राम हरख का हृदय प्रेम से भर कर गद्‌गद् हो उठा। बोला,

"नहीं—बेटा तू मेरे लिए कष्ट क्यों उठायेगा। मैं जाता हूँ खोजूँगा।"

"नहीं काका चलो मैं चलता जो हूँ।" कहकर जुगाई साथ-साथ चलने लगा।

दोनों अंधेरे में भैंस खोजते-खोजते दूर तक चले गए। पर भैंस का पता कहीं न लगा तो हारकर रामहरख ने कहा—"अब तो जुगाई मैं थक गया। जहाँ होगी अपने आप आ जावेगी। अब इस बार इसे बेच कर ही दम लूँगा। कहाँ तक इसके पीछे परेशान होऊँ!"

जुगाई भी आज थकान का अनुभव कर रहा था। सोच कर बोला—"तो जैसा समझो काका।"

"हाँ भाई चलो लौट चलें।"

दोनों ही गाँव की ओर लौटे। काका के माथे पर चिन्ता छा रही थी सो वे चुप थे और जुगाई सोच रहा था कि कितनी देर हो गई है। माँ बहुत चिन्तित होगी, सोच रही होगी कि जुगाई कहाँ रह गया। बाग के बीच से वे निकल रहे थे तो हवा के शीतल झोंके से रामहरख के दाँत कटकटा उठे। जुगाई ने अंधकार में काका की ओर निहार कर कहा—"आज बड़ी सर्दी है।"

"हाँ बहुत सर्दी है।"

"और तुम तो काका इस समय कम्बल भी नहीं लाए हो।"

"अरे जल्दी में निकला था कुछ होश तो था नहीं।" काँपते हुए रामहरख ने कहा।

दोनों अब गाँव में आ गए। रास्ता यहाँ से दोराहा हो जाता है। जुगाई को यहाँ से मुड़ कर घर की ओर जाना था सो कहा—"काका कहो तुम्हें घर तक पहुँचा दूँ।"

"नहीं-नहीं अब चला जाऊँगा।" रामहरख ने कहा।

"पर अंधेरा तो है—और तुम्हें राह न सूझी तो?" जुगाई ने हँस कर कहा।

"अरे जुगाई कैसी बात करता है। इस गाँव के रास्ते वर्षों से

चलते-चलते परिचित से हो गए हैं, इन्हें नहीं भूल सकता।"

जुगाई के ओंठ खिच गए। सच ही तो है—मनुष्य रास्ते पर चलते-चलते उससे पूर्ण परिचित हो जाता है। उस पर भूलने-भटकने का जैसे भय ही नहीं रहता। पर जुगाई ने तो आज एक नए पथ पर पाँव रखा है। सो कहीं वह राह भूल न जाय। कहते हैं मंजिल तक पहुँचने का इच्छुक राह नहीं भूलता। उसने कहा—"काका कोई अपना पथ भूलता नहीं पर रास्ते में सहायक की भी तो आवश्यकता होती है।"

काका को जुगाई का यह रहस्यवाद शायद समझ में नहीं आया सो उसकी ओर वे घूरने लगे तो जुगाई ने फिर कहा—"चलो काका तुम्हें घर तक पहुँचा दूँ।"

काका का घर भी आ गया। बाहर अलाव भी जल रहा था। रामहरख की घरवाली ने उन्हें आते देख कर अलाव पर पास वाली घास के ढेर से थोड़ी सी उठा कर डाल दी। आग भभक कर जल उठी। पर इसके पहले ही धुएं का अम्बार उठ कर आकाश में विलीन हो गया।

आग का प्रकाश जो बिखर उठा तो काकी ने जुगाई को पहचान कर कहा—"अरे जुगाई तू इन्हें कहाँ मिल गया?"

रामहरख ने आग के निकट बैठते हुए कहा—"बेचारा न मिल जाता तो हमें जाने कितना कष्ट उठाना पड़ता। यह साथ था तभी तो अबतक भैंस खोजता रहा।"

"पर भैंस तो कभी की अपने खूंटे पर आ चुकी है।"

"आ गई?" रामहरख ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ आ गई।" काकी ने कहा और जुगाई को खड़ा देखकर बोली। "जुगाई खड़ा क्यों है बैठ कर आग ताप ले न, आज सर्दी बहुत है।"

"हाँ।" कह कर वह काका के पास बैठ गया। रामहरख ने उसे

लक्ष करके कहा—"जुगाई, बेकार ही हम सब इतना परेशान हुए।"

'मैंने तो कहा ही था कि तुम सर्दी में व्यर्थ ही जाते हो। भैंस तो आप ही आप आखिर आ ही गई।" काकी ने कहा।

"और यदि कहीं कल तक न आती तो तुम्हीं कल कहतीं कि तुम्हारे लापरवाही से ही तो भैंस खो गई।" मुस्करा कर जुगाई ने कहा।

काका ने कहा—"देखता है न जुगाई, गए तो बुरा किया। न जाते तो भी बुरा होता। औरतों का यही तो होता है।"

जुगाई हँस-पड़ा पर सहसा वह गम्भीर हो गया। काका की बात कितनी सच्ची है। औरतों की बातें कभी समझ में नहीं आती। चिन्ता की बातें भी तो समझने का वह प्रयत्न करता है पर कुछ समझ ही नहीं पाता। तो क्या नारी सदा पुरुष के लिए समस्या ही बनी रहती है जो उसको समझना असम्भव है।"

पर कौन कहे जुगाई से कि यह तो उस उलझे सूत का एक तार है जो अभी वह नहीं पा सका। जो उलझता ही जाता है सुलझता शायद कभी नहीं।

हाथ गरम हो गए थे इसलिए उसने उठते हुए कहा—"कहा अच्छा काका अब चलूँ। बड़ी देर हो गई है माँ सोच में होगी।"

"हाँ भैया जा।" कहा रामहरख ने और वह भी उठ खड़ा हुआ। जा कर भैंस की पीठ पर वह हाथ फेरने लगा। जुगाई धीरे-धीरे सिर झुकाए घर की ओर बढ़ने लगा।

द्वार पर पहुँच कर उसने माँ को पुकारा। माँ सब काम छोड़ कर दरवाजा खोलने दौड़ी और पूछा—"कहाँ रह गया जुगाई ? तुझे तो कुछ सूझता ही नहीं। अभी बीमारी से उठा है और इस सर्दी में घूम रहा है।"

प्रेम करने के लिए झूठ बोलना जरूरी है न, सो वह कैसे कह दे नदी की वह लहरें गिन रहा था, तारों को धरती पर उतरते देख रहा

था। सोच कर उसने कहा—"रामहरख काका की भैंस खो गई थी सो उन्हीं के साथ खोज रहा था।"

"अच्छा चल आ भीतर। मिल गई?"

"हाँ, वह तो अपने से ही घर आ गई और हम उसे ढूढ़ते ही फिरे।" जुगाई ने उत्तर दिया।

माँ ने किवाड़े बन्द किए फिर जुगाई का हाथ-छू कर बोली—"देख तो शरीर जैसे पाला हो रहा है।"

जल्दी से जा माँ ने आग तेज की। जुगाई बैठकर तापने लगा। माँ खाना परोसने का प्रबन्ध करने लगीं। बोलीं—"देख, खाना बिलकुल ठण्ठा हो गया।

"तो आग पर गरम कर दे माँ।"

पर गरम किया भोजन भी वह उस दिन अधिक न खा सका। उसे लगा जैसे उसे भूख ही नहीं रह गई सो थोड़ा खा कर वह उठने लगा तो माँ ने कहा—"क्यों खायेगा नहीं क्या?"

"भूख नहीं है माँ।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"हाँ भूख कैसे रहे! सर्दी में घूमता फिरता है। भूख लगे कैसे? पर जब तू माने तब न?"

जुगाई ने हंस दिया। माँ की बातों का वह कुछ उत्तर न दे सका।

माँ अपने लिए खाना परोसने लगीं। थोड़ी देर और हाथ सेंक कर जुगाई अपनी कोठरी में चला गया।

माँ ने पुकार कर कहा—"जुगाई दिया जला ले।"

"क्या होगा माँ।" जुगाई ने उत्तर दिया और चारपाई पर जाकर लेट रहा।

उसे तो इस समय प्रकाश की अनुपस्थिति ही मानो प्रिय लग रही थी। यौवन में मनुष्य का मस्तिष्क अधिक कल्पना शील रहता है। वह एकान्त में पड़ा सोचते रहना चाहता है। जुगाई की भी तो यही दशा हो

गई है। लेकिन इसके पहले उसे कभी भी एकान्त अच्छा नहीं लगा। तो क्या जब मनुष्य प्रेम करने लगता है तो उसका यौवन फूल उठता है!

चारपाई पर पड़ा वह उसी प्रकार जाने कब तक जागता रहा, इसका उसे ज्ञान नहीं। माँ आईं, दीपक के प्रकाश में उन्होंने उसे आँख मूँदे देखा तो लौट गईं। और जुगाई उसी प्रकार जागता रहा। उसे यह लग रहा था कि उसके निकट कोई आकर बैठे और प्रेम होने वाली कहानियाँ सुनाए।

पर नींद की उपेक्षा भी कोई कब तक करे।

नवनीत ने कहा—"और जिसके लिए इतना दर्द संजो कर कलेजे में भर रखा है उसका क्या करूँ ?"

"वह दर्द ! उसे तो तू अनजाने पी गया था ? अब उगल देना ।" जुगाई ने मुस्करा कर कहा ।

नवनीत ने कहा—"पर तू तो बिल्कुल रघुराज सिंह की ही तरह बातें करता है ।"

"कौन रघुराज सिंह !"

"मैं पिछले दिनों नाना के यहाँ गया था । वहीं उसे देखा था । अभी छब्बीस-सत्ताइस की उम्र होगी । बड़ा सुन्दर जवान है । फौज में है । कहता है उसने इन आगा लोगों का देश देखा है जो लम्बा कुरता पहने जाड़ों में इधर आते हैं । मेवे खूब सस्ते बेचते हैं । हींग वाले खान । बड़ा ही विचित्र व्यक्ति है । पैसे का तो जैसे उसके निकट कुछ मूल्य ही नहीं है । जाति का अहिर है—घर में पहले रघुराज था पर अब फौज में जाकर रघुराज सिंह हो गया है ।"

"अच्छा !" जुगाई हँसा ।

नवनीत कहता गया—"फौज में चला गया तो वर्षों उसने घर की खोज खबर ही न ली । जोरू भी वैसी ही निकली । जवान तो थी ही—कबतक उसकी प्रतीक्षा करती, सो दूसरे के बैठ गई और अब जब वह आया तो बिल्कुल बेफिक्र । कहता था—चली गई तो चली जाने दो मेरा क्या ? दुनिया में सैकड़ों लड़कियाँ हैं, एक से एक अच्छी जब चाहूंगा तभी व्याह लूँगा, पर व्याह करूँ भी क्यों ?"

जुगाई सोच रहा था—क्या सच रघुराज सिंह के मुँह से ऐसी बात हृदय से आकर निकली होगी । क्या नारी का प्रेम पुरुष के निकट इतना तुच्छ है कि वह उसे खो कर भी दुखी नहीं होता । जुगाई को लगा कि यह बात रघुराज के हृदय की न होगी ।

जुगाई को सोचते देख नवनीत ने कहा—"क्या सोचने लगा जुगाई ?"

"कुछ नहीं सोच रहा था कि क्या पुरुष के निकट नारी का इतना ही मूल्य हो सकता है ?"

"यही तो मैं भी आश्चर्य करता रहा जुगाई। उसकी बातें सुनकर तुझे आश्चर्य होगा। दुःख तो उसे मानो छू ही नहीं सकता।"

शायद सेना में रह कर मनुष्य का हृदय मर जाता है। विनाश का दृश्य मनुष्य को संसार में हर वस्तु की अनित्यता को समझा देता होगा। और जब ऐसा है तो कोई नारी प्रेम के लिए ही क्यों दुःखी हो। जुगाई सोचता रहा तो नवनीत ने टोका---

"क्या सोचने लगा रे जुगाई ?"

"सोच रहा था।" जुगाई ने एक बार अपने शरीर को सीधा करते हुए कहा---"कि ऐसे लोग कितने सुखी होते होंगे।"

"हाँ सुखी तो अवश्य ही होते होंगे।" नवनीत ने गम्भीर होकर उत्तर दिया।" परन्तु शायद उनमें मनुष्य का हृदय नहीं होता या वे मनुष्य ही नहीं होते।"

"मनुष्य क्यों नहीं होते ?" जुगाई ने जरा हंस कर उत्तर दिया।

"नवनीत ! हम मनुष्य की परिभाषा स्वयम् बना लेते हैं। यह नहीं सोचते कि हमारा वृत कितना संकीर्ण है।"

नवनीत ने एक बार जुगाई की ओर देखा।

जुगाई कहता गया।—"मनुष्य की परिभाषा कितनी विस्तृत होगी। शायद वह परिभाषा में बंध नहीं सकता।"

"तेरी बातें समझ में नहीं आईं, जुगाई !" नवनीत ने कहा।

"समझ में नहीं आतीं ! बात ऐसी ही है नवनीत ! तू सोच; तूने मनुष्य की परिभाषा अपने ही दृष्टिकोण से तो बनाई है। हम अपने को ही मनुष्य समझते हैं। अपने जैसे जो हों उन्हें ही तो हम मनुष्य मानेंगे। पर जो हमसे विपरीत हैं उन्हें हम मनुष्य नहीं मानते। यही तो मानव की दुर्बलता है।"

'मानव की दुर्बलता ! मानव ही तो एक दुर्बलता है।" नवनीत की

दार्शनिकता अब उभर आई थी।

'मानव दुर्बलता है—यह मैं स्वीकार नहीं करता। मानव दुर्बलता नहीं है। दुर्बलता उसमें होती अवश्य है पर उन पर विजय प्राप्त करने की शक्ति ही तो मानव कहते है। किन्तु हम तो अपनी दुर्बलताओं को ही अधिक महत्व देते हैं और समझते भी हैं कि हममें केवल वही है।"

"पर प्रेम—?"

'हाँ प्रेम; इसे मैं दुर्बलता ही कहूंगा। मनुष्य इस दुर्बलता का शिकार हो जाता है तो वह जैसे अपने को खो देने में ही समर्थ पाता है।"

"तुम भी तो शिकार हुए हो न! चोट लगी है?"

"लगी है तभी तो कहता हूँ।"

"फिर कोई बात हुई नहीं?"

"हाँ।"

"क्या सच!"

"हाँ सच!"

"सच, पर इन बातों से होता क्या है, नवनीत!"

"क्यों, बातों से ही तो सब कुछ होता है।"

'होता होगा पर जब कोई अनुभव करे तब न।"

"तू चाहे न अनुभव कर पर वह तो अवश्य ही करती होगी।"

"यही तो है कि शायद वह नहीं करती!"।

"यही तो तू भूल करता है। जानता नहीं स्त्रियाँ अनुभव बहुत करती हैं पर कहती कम हैं।"

"कहती कम हैं!" हाँ यही तो जुगाई सोच रहा है। चिन्ता उससे जब भी मिली उसने अनुभव किया है कि वह उससे बातें करती रहना चाहती है पर कभी उसने कुछ कहा नहीं। पर वह भी तो कुछ उससे नहीं कह पाता। उसके मन में न जाने कितनी बातें आती हैं पर जब वह उसके सम्मुख पहुँचता है तो वह कुछ कह नहीं पाता। बातें

उसके मन में आती हैं और वह उन्हें कहने को उद्यत हो जाता है पर जैसे बातें उसके कंठ से बाहर नहीं आ पातीं। और आ कैसे पावें, उसे तो लगने लगता है मानों उसके कंठ में कोई बैठ गया है। बोला—"तेरी यह बात शायद सच है।"

"सच! मैं कहता हूं बिल्कुल सही है।"

"हो सकता है, तेरा अनुभव जो ठहरा।" मुस्कुरा कर उसने कहा।

"अनुभव की बात ही तो कहता हूँ। पहले जब मेरा उसका परिचय हुआ था तब वह भी तो ऐसे ही करती थी।"

"ऐसे क्या करती थी?" जुगाई ने दिलचस्पी लेते हुए कहा।

"यही कि जब वह हमसे मिलती तो ऐसा प्रकट करती थी जैसे मुझसे बात ही करना नहीं चाहती। पर मैंने निरन्तर अपना क्रम बनाए रक्खा तो फिर आखिर वह बातें करने ही लगी।"

"हाँ!" जुगाई ने आकाश की ओर देखते हुए कहा।

"और जब बातें होने लगी तो शीघ्र ही उसका प्रेम बाँध काट कर बहने वाली सरिता की भाँति बह चला।"

"हाँ! और वह सरिता—"

"अब वह सरिता जैसे मेरे समस्त जीवन में बिखर कर उसे गीला कर गई है। इसलिए तो कहता हूं कि उसके बिना जुगाई मैं जीवित नहीं रह सकता।"

"हो सकता है।" जुगाई अनमना होकर बोला।

"हाँ जुगाई पर—!"

पर जुगाई ने बीच ही में बात काटी—"इसीलिए तो सोचता हूं कि प्रेम से दूर रहना ही अच्छा है। मुझे तो जैसे लगता है मेरे समस्त व्यक्तित्व पर ही कोई उभर कर आ रहा हो।"

नादान जुगाई को शायद नहीं मालूम कि—आ रहा हो या आ गया है, छा गया है।

क्षण भर शान्ति रही फिर जुगाई ने कहा—"नवनीत, आज उसने मिलने को कहा है पर सोचता हूं कि न मिलूं। अपने को बिल्कुल उसके हाथों सौंप देने को मैं तैयार नहीं हूं। अपने जीवन का निर्माता, निर्वाहक मैं स्वयं ही रहना चाहता हूं। मैं यह नहीं चाहता कि कोई मेरे जीवन में आकर मेरी आजादी का ही अंत कर दे।"

"हाँ प्रेम और है क्या ? केवल अपने को किसी और की इच्छाओं पर संचालित करना ही तो है।

"प्रेम हुआ तो मनुष्य एक मशीन हो जाता है।" जुगाई कह रहा था पर नवनीत ने बीच में ही बात काट दी।

"मशीन हो जाता है ! पर कैसे ?"

"मशीन को कहीं अन्यत्र से शक्ति मिलती है तो वह चलती है, काम करती है पर जब वह शक्ति अपने को प्रथक कर लेती है तो लोहे के चन्द टुकड़े एक में संयुक्त रह कर भी तो निर्जीव हो जाते हैं। प्रेम करके मनुष्य भी ऐसा ही हो जाता है। उसके तन के प्रत्येक कण में जो भी स्पन्दन होते हैं वे किसी दूसरे के ही इँगित पर तो होते हैं।

"हाँ तो हम दोनों मशीन हैं।" हँस कर नवनीत ने कहा।

"हां मशीन, बिल्कुल मशीन।" जुगाई ने गम्भीर हो कर कहा।

नवनीत परिहास में कुछ और कहना चाहता था पर जुगाई की गम्भीर आकृति को देखकर उसका कुछ कहने का साहस न हीं हुआ। वह चुप ही रहा।

निस्तब्धता बनी रही और जुगाई दूर क्षितिज पर कुछ निहार रहा था। उसकी आखों के सम्मुख क्षितिज के नीले पट पर जाने कितने चित्र बन रहे थे और अपने नयनों से जैसे वह उनमें रँग भर रहा हो। नवनीत को जुगाई के यह चित्र दिखाई न पड़ रहे हो पर उसने भी तो जाने कितने चित्र बनाए हैं, कितनों में रँग भरे है और ऐसे चित्रों में कितना सामंजस्य होता है। यौवन में जब गुलाबी मदिरा आंखों में छा जाती है तो ऐसे चित्र बनते बिगड़ते ही तो रहते हैं। सब एकसे चित्र—!

जग में शायद यही तो शाश्वत होता है और कुछ भी सम्भवतः शाश्वत हो पर मनुष्य इससे परिचित नहीं है। यौवन के स्वप्न कभी दो नहीं होते।

सहसा जुगाई को जैसे परिस्थित का ज्ञान हुआ। एक बार उसने नवनीत को देखा फिर उठते हुए कहा—"अब चलना चाहिए नवनीत! बड़ी देर हो गई है।"

अवश्य देर हो गई थी नवनीत को भी तो समय का पता नहीं था यह सूरज शायद सदैव चलता रहता है, कोई उसकी उपेक्षा भी करे तब भी तो वह क्षण भर को नहीं ठहरता।

नवनीत भी उठ खड़ा हुआ और बोला—"हाँ अब चलना ही चाहिए। बड़ी देर हुई है सचमुच।"

दोनों साथ साथ चल पड़े। आगे खेतों की मेड़ पतली हो गई है। धरती का अभाव ये ही पतली मेड़ें मानों बतला रही हैं। कभी यह भी चौड़ी रही होंगी, जब उन पर भी कभी जुगाई और नवनीत ऐसे, जीवन की मेड़ पर भूले-भटके दो राही साथ-साथ चले होंगे। पर अब दोनों ओर के खेत के मालिकों ने अपने खेत की भूमि का बढ़ाने के उद्देश्य से हर साल थोड़ा-थोड़ा मेड़ तोड़ कर इसे इतना पतला कर दिया है। सच, मानव अपने विस्तार-विकाश के लिए उस कूल को ही तो काटता है जो उसमें पृथक व्यक्तित्व का निर्माता है। भूल ही तो है न यह उसकी।

दोनों साथ-साथ न चल सके तो जुगाई पीछे चलने लगा। दोनों चुप तो थे पर नवनीत को चुप रह राह चलना दुष्कर हो जाता है। सो उसने वार्तालाप प्रारम्भ करने के लिए कहा—"तो आज तुम्हें उससे मिलने जाना है।"

जुगाई जैसे सब कुछ भूल गया था—पूछा "किससे?"

"चिन्ता से।"

ओह उसे तो स्मरण ही नहीं था। चिन्ता ने शाम को बुलाया है।

अभी उसने कहा था कि वह चाहता है कि वह न मिले, पर मिले क्यों न ! मिले बिना वह रह भी तो नहीं सकता। बोला—"हाँ।"

"तो जायगा !"

"हाँ"

"कब ?"

"शाम को।"

"कहाँ मिलने को कहा है ?"

"क्यों तू यह सब जान कर क्या करेगा ?" जुगाई ने हँस कर कहा।

नवनीत लजा गया, बोला—"अरे पूछा, तू भी तो अजीब है।"

"तो ले बता देता हूँ। कल वहाँ नदी किनारे टीले के दूसरे सिरे पर वह मिली थी। वहीं आज भी आने को कहा है।

"पर—"नवनीत रुक गया।

"पर क्या ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो कह ही रहे थे। कहो न !"

"मैंने सोचा कि वह स्थान तो ठीक नहीं, कोई तुम दोनों को देख लेगा तो बुरा होगा।"

"बुरा क्या होगा !" जुगाई ने निश्चिन्त उपेक्षा से उत्तर दिया।

यौवन में यह उपेक्षा आ ही जाती है, शायद जब मनुष्य अपनी समर्थ का अनुमान अधिक करने लगता है।

नवनीत ने कहा—"जुगाई तू तो समझता नहीं। वहाँ वह अकेले नहीं जाएगी—और किसी के साथ जायगी सो भी ठीक नहीं।"

"हाँ अकेली तो उस दिन भी वहाँ नहीं गई थी।"

"और अगर किसी को पता लग गया तो बाबू साहब के पास खबर पहुँचते देर न लगेगी।"

"खबर लग जाने दे।"

"लग जायगी तो फिर सदा के लिए मिलना मुश्किल हो जायगा।"

जुगाई को यह बात समझ में आ गई। बोला—"तो क्या करूं अब।"

"अरे करना क्या है। आज तो जा मिल ही ले, पर आगे के लिए कहीं और प्रबन्ध कर।"

"अच्छा।"

एक सियार सामने से भाग गया। शायद खेत में घुसा रहा होगा—दोनों की आहट पा भाग गया। उसे देख नवनीत तनिक देर को ठिठक गया। जुगांई ने पूछा—"क्या है?"

"सियार रास्ता काट गया।"

"चल तू भी अजीब है।"

दोनों चलने तो लगे पर सहसा जुगाई के मन में अजीब से विचार मँडराने लगे—"सियार ने रास्ता काटा है। क्या सफलता न होगी?"

गाँव आ गया। जुगाई अपने घर की ओर चला गया।

तो नवनीत क्षण भर खड़ा हो उसकी ओर देखने लगा। फिर चलते-चलते धीरे से कहा—बेचारा जुगाई! क्या लिखा है इसके अदृष्ट में भगवान ही मालिक हैं।

अगर कहीं चिन्ता का प्यार इसे प्राप्त न हो सका तो इसकी क्या दशा होगी! क्या इतने बड़े आघात को वह सह सकेगा। लड़कपन से ही तो उसका स्वभाग कुछ सहने में बड़ा सुकुमार रहा है। याद है एक बार जब वह सुग्रीव पण्डित की पाठशाला में पढ़ने जाया करता था। केवल आधे घण्टे की देर हुई थी और पण्डित जी ने केवल यही कहा था कि अब कभी देर होगी तो वह मारा जायगा। बस इतने पर ही उसने जो रोना शुरू किया था कि घण्टो चुप ही नहीं हो सका था। यही नहीं अभी-अभी पिछले साल इसके मौसा से इसकी लड़ाई हुई थी फिर यह उनके यहाँ उनके बेटी की शादी में भी नहीं गया था और इस बार अगर उधर से इसका टूटा तो शायद यह प्राण ही गँवा बैठे।

दस

जुगाई की स्वप्निल आंखों में पिछली संध्या की याद रह-रह कर तेज हो जाती थी मानों वह किसी धुँधले चित्र में रंग भर रही हो। काँसे के हरे-हरे डंठलों में जैसे प्राण आ गया हो। पास की हरी धरती, धुँधलके से अपने को रोशन करता आसमान, किसी का सहसा उधर आ निकलना, सरिता की लहरों का किनारे की ओर दौड़ पड़ना, सरिता के अचल तट का भी चल हो उठना और फिर किसी अज्ञात शक्ति द्वारा खिंच कर जुगाई का उस ओर जाना। एक के बाद एक, ये बातें क्रमशः उभर-उभर कर जुगाई को कहीं दूर खींचे लिए जा रही थीं।

उसे किसी की दो आंखों की याद आ गई। कितनी मदभरी हैं वे आंखें! मानों कितनी ही बोतलों का नशा नशा उन पर छाया रहता है। कहते हैं यदि कोई शराबियों के बीच में बैठ जाता है तो उसे भी नशा सा प्रतीत होने लगता है चाहे वह शराब न पिए। उसने अनुभव किया जैसे उसके कपोलों को किसी जलती हवा ने छू दिया है लगा जैसे किसी के तन से निकलती हुई यौवन की सुगंध उसके नासापुटों में भर गई है। उसके शरीर में एक अजीब सी सिरहन पैदा हो गई। जैसे स्वर्ग का कोई संगीत, मधुर स्वर लहरी हवा में मिलकर मिजराब पर किसी की उँगलियों से बज कर एक अस्पष्ट स्वर उसके कानों में घुस गया हो। संगीत ही का एक अस्पष्ट वातावरण उसे

चारों ओर से घना होता प्रतीत हो रहा था।

जुगाई को जैसे एक नए जीवन का अनुभव हुआ। उठकर उसने कपड़े पहने। पर आज उसे ये कपड़े पसन्द नहीं आ रहे थे। पहले उसने कपड़ों की ओर कभी ध्यान नहीं दिया था जो भी मिलता पहन लेता था। अपने को सजाने की बात उसने कभी सोची ही नहीं। पर आज उसे लग रहा था मानों उसे कोई भी कपड़ा अच्छा नहीं लगेगा। कहीं आने-जाने वाला कपड़ा भी उसने निकाला। निकाल कर उसे चारपाई पर रख दिया। क्षण भर वह उसे निहारता रहा फिर पहनने लगा। पर भला कोई देखेगा तो क्या कहेगा। गाँव में इस प्रकार के कपड़े कोई रोज तो पहनता नहीं। हाँ कोई कहीं उत्सव हो तब ..... । पर जुगाई के जीवन में तो यह सब से बड़ा खुशी का उत्सव है। इस उत्सव के दिन भी वह अच्छे कपड़े क्यों न पहने ? सो उसने वे कपड़े पहन लिए। फिर शीशे में मुँह देखा। आज तक उसने कभी यह नहीं समझा था कि वह इतना सुन्दर है। नहीं वह बहुत सुन्दर है। तब तो गाँव की कितनी ही लड़कियां उसके सौंदर्य पर बलिदान होती होंगी। पर उसने कभी किसी बलिदान होने वाले की खोज खबर नहीं ली। उसने सुना है कि श्रीकृष्ण को सैकड़ों गोपियां प्यार करती थीं। उसे भी जाने कितनी लड़कियाँ प्यार करती होंगी। श्रीकृष्ण से वह कम सुन्दर तो नहीं है। उसे लगा कि सौंदर्य की ओर आकर्षित होना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। वह स्वयं भी तो रूप की ओर आकर्षित हो उठा है। पर नहीं, चिन्ता में केवल रूप ही नहीं है। रूप तो बहुत सी स्त्रियों में हो सकता है। कितनी ही अद्वितीय सुन्दरियों को उसने देखा है पर किसी की ओर तो वह आकर्षित नहीं हुआ। फिर चिन्ता की ही ओर वह इतना आकर्षित क्यों हो गया ? अवश्य ही उसमें रूप के अतिरिक्त कुछ और है।

वह कोठरी से बाहर निकल दरवाजे की ओर जाने लगा। तभी माँ जाने किधर से सामने आ गई। उसे देख कर कहा—

"आज कहीं जा रहा है क्या, जुगाई ?"

"नहीं तो माँ !" जुगाई ने चौंक कर उत्तर दिया।

"फिर क्यों इन कपड़ों को निकाल दिया।"

जुगाई को कुछ उत्तर न सूझा। वास्तव में वह भी तो नहीं जानता कि आखिर क्यों उसने यह कपड़े पहने हैं। कहा—"आज मेरा मन हो गया था इसीलिए पहन लिया।"

माँ मुस्कराई पर कुछ कहा नहीं। जुगाई बाहर निकल गया। घर के बाहर आ वह सब की दृष्टि बचाए आगे बढ़ रहा था जैसे कोई चोर, चोरी करते जाते हुए दृष्टि बचा कर आगे बढ़ता है। पर जब कोई संसार की दृष्टि से छिप कर चलना चाहता है तब जाने क्यों लोगों की दृष्टि उस पर पड़ ही जाती है। गाँव से बाहर वह होने को ही था कि नवनीत उधर से ही आकर सामने खड़ा हो गया। देख कर वह मुस्कराया।

"अरे बहुत सज बन कर जा रहा है जुगाई।"

जुगाई ने उसकी ओर कातर दृष्टि से देखा। मानो कोई लड़का मिठाई चुराता हुआ माँ के द्वारा पकड़ा गया हो।

"हाँ, हाँ, ठीक है। जाओ भाई जाओ, आज तुम्हें देख कर कोई भी स्त्री तुम पर मोहित हो सकती है।"

इस पर जुगाई ने कुछ उत्तर नहीं दिया और आगे बढ़ गया। लम्बे-लम्बे पग पड़ने लगे और जुगाई सोचने लगा—"क्या वास्तव में वह इतना सुन्दर है! अवश्य होगा, तभी तो चिन्ता उससे प्रेम करने लगी हैं।"

उसे कुछ लगा। सहसा किसी ने जैसे उसे झकझोर दिया हो। प्रेम करती है ? कैसे भला उसने समझ लिया कि वह प्रेम करती है। हाँ आज मिलने की बात उसने कही तो अवश्य है। अगर प्रेम न करती होती तो भला मिलने को क्यों कहती। पर बिना प्रेम किये भी तो कोई ऐसा—कह ही सकता है। और कौन जाने, उसे तंग ही करने

में उसे अच्छा लगता हो। उसने मुझे आने को कह दिया हो और स्वयं न आवे........। हाँ न आवे !

जुगाई के जी में आया कि वह लौट जाय। व्यर्थ ही वहाँ जाकर मूर्ख बनने से तो कोई लाभ है नहीं। तभी जब वह आ रहा था तो सहसा उसका रास्ता सियार काट गया था। अशुभ तो पहले ही हो गया था। उस चेतावनी को उसने स्वीकार नहीं किया। और यदि चिन्ता से भेंट न हुई तो उसका क्या होगा। किस प्रकार वह गाँव लौट सकेगा। किस प्रकार वह दूसरों को अपना मुँह दिखा सकेगा। पर जानता कौन है जो मुँह दिखाने न दिखाने का सवाल आए ! ......पर यह नवनीत ? वह तो सवेरे ही सवेरे आकर पूछेगा कि—कहो कैसा रहा मिलना ! जुगाई को लगा कि वह धरती पर गिर पड़ेगा।

पृथ्वी फटी जा रही थी। पहले खेतों के बीच एक पतली सी दरार दिखाई दी। फिर वह दरार जैसे बढ़ती गई और गहरी सी फटी जगह उसके पाँवों के नीचे बन गई। जिसके भीतर अंधकार था। जुगाई मानों धरती के फटे हृदय में प्रवेश करने लगा। भीतर था अंधकार, घोर अंधकार ! फिर सुनाई पड़ा जैसे पानी का कल-कल। उसे अनुभव भी अजीब सा हो रहा था मानो हवा, ठण्डी-हवा में पत्तियों की सरसराहट चारो ओर घनी हो कर वातावरण में छाई जा रही थी। हाथ उठा कर उसने अपनी दोनों आखें मल दी। सिर को एक बार झटका दिया। मानों वह कहीं और लोक में हहुँच गया है। उसने समझा कि इसी को रसातल कहते हैं ?

आँखें पोंछ उसने निहारा तो देखा कि नदी के किनारे पहुँच गया है। धरती जो फटी थी शायद फिर मिल गई थी ? जुगाई ने चारों ओर देखा—अरे देर तो नहीं हो गई। वह अब झटपट पाँव बढ़ा कर नियत स्थान पर पहुँच गया। पर वहाँ कोई नहीं था। केवल कासैं के पेड़ ही लहरा-लहरा कर जैसे कुछ कह रहे थे। हवा उन्हें झकझोर

देती तो वह कराह से उठते। इन निर्जीवों के हृदय की यह कराहें एक में मिल कर अजीब सी दारुण स्वर की सृष्टि करती थीं। वह नहीं आई! पर आने का तो उसने वचन दिया ही था। हो सकता है शायद आकर लौट गई हो। आने में भी जुगाई को बहुत देर लगी है। रास्ता जैसे आज आकाश सा असीम हो गया था और उस असीम को ससीम करने में उसे कितना समय लग गया! वह आकर चली गई होगी। अँधेरा भी तो हो ही रहा था। आज की शाम जैसी शाम उसने पहले कभी न देखी थी। जुगाई को अपने ऊपर बड़ी खीझ लगी। लगा कि दौड़कर वह नदी में कूद जाय पर कूद कर ही क्या होगा। इस नदी को तो उसने जाने कितनी बार तैर कर पार किया है इसमें उसे डूबने की शक्ति ही कहाँ है।

वह धरती पर धम् से बैठ गया। उसके सामने की सन्ध्या रात बन गई। सूरज की पीली भागती हुई किरणें तारों में टूट कर छितर गईं। आसमान के तारे जैसे जगमगाने लगे हों।—नीचे बस अंधकार ही चारों ओर हाथ आ रहा था।

कितनी देर वह इस प्रकार बैठा रहा। इसका उसे अन्दाज नहीं। सहसा उसे लगा जैसे उसके पास ही कोई सांस ले रहा हो। वह चौंक उठा। रात और अंधकार का दृश्य बदल गया। मँच पर दृश्य बदलते देर नहीं लगती। वहाँ समय और दूरी बाधक नहीं होती। तो प्रेम एक मँच ही तो है। देखो न दिन भी रात हो जाता है। हजारों मील की दूरी, तिल भर की दूरी हो सकती है।

उसने मुड़कर देखा—"अरे चिन्ता!"

वह उसके बगल में बैठी मुस्करा रही थी। जुगाई को चकित देख उसने पूछा—"किस दुनिया में भटक रहे थे?"

"वह दुनिया कौन थी सो नहीं कह सकता। पर हाँ, वहाँ चारों ओर अंधकार था।"

"तो वहाँ रास्ता तुम्हें कैसे दिखाई देता था।"

"वहाँ चलना नहीं पड़ता, मंजिल स्वयम् ही पास आ जाती है।"

"ओह ऐसा! तब तो तुम व्यर्थ ही उस दुनिया को छोड़कर यहाँ आ गए।"

इस पर जुगाई के दिल में तो आया कि कह दे कि वहाँ तुम जो नहीं थी पर वह चुप ही रहा।

चिन्ता को यह चुप्पी बिल्कुल अच्छी न लगी। वह बोली—"तुमने समाधि लेने का विचार किया है क्या!"

"किया तो नहीं पर अब हो जायगा।"

"हाँ यह ठीक ही है कारण समाधि में तो भगवान मिलते हैं न।"

"पर सबसे भगवान एक तो नहीं होते।" जुगाई के मुँह से सहसा निकला।

चिन्ता ने एक बार उसकी ओर देखा मानों उसके चेहरे पर वह कुछ पढ़ने का प्रयत्न कर रही हो। और शायद उसने पढ़ भी लिया तभी तो मुस्कराकर उसने कह दिया—"धरती पर का ईश्वर तो पत्थर होता है।"

"हाँ सच, पत्थर ही होता है।"

"जो पिघले चाहे न पर ताप में चटख कर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।"

"यदि पिघल सके—"

"पिघलना उसके वश की बात तो नहीं। विधाता हर वस्तु को एक विवशता जो देता है। जो उसका स्वभाव बन जाता है।"

जुगाई ने सोचा—सचमुच स्वभाव विवशता ही तो है।

शान्ति की परी ने दोनों के सिर पर अपने पंख पसार दिए। सामने नीले आकाश में थोड़े से सफ़ेद बादल थे जो छितरे-बितरे इधर-उधर उड़ रहे थे। आकाश के पश्चिम कोने में बैठा कोई उन बादलों की मूर्तियाँ गढ़ने का प्रयत्न कर रहा था।। सूरज की किरणें उन्हें बेध कर सुनहला बना देना चाह रही थी। दोनों शिल्पी के इस प्रयत्न को मुग्ध

हो निहारते रहे। यह खरगोश बन गया। सफेद, दूध सा, कान कैसे खड़े हैं ? और वह ऊँट कितना विशाल है।

शान्ति की परी अपने पँख फड़फड़ा कर उड़ गई। चिन्ता ने कहा—"बादलों को देखते हो न।"

"हाँ।"

"यह भी पत्थर से ही हैं न ! पर इन्हें कोई कितने रूपों में बदल देता है।"

"उनका स्वभाव जो पिघलना है।"

"पिघल कर तो वे नीचे ही गिर जाते हैं। नए जीवन के लिए प्रत्येक क्षण उद्यत रहते है।"

"हाँ।" जुगाई ने कहा। वह कुछ सोच रहा था।

"सहसा चिन्ता ने अनुभव किया तो पूछा—"तुम कुछ सोच रहे हो क्या ?"

"हां।"

"क्या ?"

"यदि मैं न बताऊँ तो—"

"तो क्या मैं सोच न लूँगी ?"

"क्यो"

"इसलिए कि यहाँ हम जो सोचें उसे एक बार कह देना होगा।"

"और यदि न कह पाएँ तो ?"

"तो दण्ड मिलेगा।"

"तो तुम मुझे दण्ड दे लो।"

चिन्ता ने गम्भीर बन कर कहा—"तुम्हें दण्ड दिया जाता है कि जो कुछ तुम सोच रहे थे वह तुरन्त कह डालो।"

जुगाई केवल मुस्करा दिया पर चिन्ता तो खिलखिला कर हँस पड़ी। क्षणभर दोनों हँसते रहे फिर जुगाई ने कहा—"दण्ड स्वीकार है। तुमसे कहने को हम जाने कितनी बातें सोच कर आए थे। कुछ

बहुत जरूरी भी थीं पर तुम्हें सामने देखा तो सब कुछ भूल गया। उसी को सोच रहा था।"

"तो जान पड़ता है तुम बड़े भुलक्कड़ हो।"

"हाँ अब तो यही कहना चाहिए।"

चिन्ता गम्भीर हो गई फिर क्षण भर बाद बोली—"भुलक्कड़ होना बहुत बुरी बात नहीं है, इससे कभी कभी बहुत लाभ होता है?"

"क्या?"

"बहुत सी बातें हम भूल जाना चाहते हैं। उनका भूलना कभी कभी जरूरी सा हो जाता है।"

जुगाई को लगा कि चिन्ता की बातों में दूसरा ही अर्थ है। उसने कहा—"पर ऐसी बातें मनुष्य भूल नहीं पाता।

"पर जो स्वभाव का ही भुलक्कड़ हो?" चिन्ता ने हँस कर कहा।

जुगाई अप्रतिम हो उठा। चिन्ता ने उसे, उसी की बात से पराजित कर दिया। यह बात उसे कुछ अजीब सी लगी। पर वह कहता ही क्या? सो चुप रहा।

भला कौन कहे चिन्ता को कि भुलक्कल मनुष्य केवल इसीलिए तो हो जाता है कि सब कुछ भूलकर के बस एक ही बात को याद रखता है, जो उभर कर सदा ही उसके मस्तिष्क पर रहे।

चिन्ता ने फिर कहा—"तुम मेरे सामने जो कहना चाहते हो वह भूल क्यों जाते हो? मैं कोई ऐसी भयावनी तो नहीं हूं।"

"पर—" जुगाई के मुँह में आया कि—ऐसी मोहक है कि सब भूल जाता है। शब्द आकर भी न निकल सके।

"पर क्या?"

"पता नहीं मैं, कह नहीं सकता।"

"और किस-किस के सामने तुम भूल जाते हो?"

और किसी के सामने तो जुगाई ने इस विचित्र स्थिति का अनुभव

नहीं किया। सो कहा—"और कभी तो ऐसा अनुभव मुझे नहीं हुआ।"

चिन्ता विचार करती रही। उसका सिर जैसे विचार के भार से एक ओर को झुक गया था। जुगाई को उसके सांसों की गरमी छू रही थी। क्षण-क्षण उसे ऐसा लग रहा था मानों उसका शरीर काँप उठता था। हवा में इतनी सर्दी भी तो आज नहीं है फिर उसे ऐसा क्यों लगता है। चादर को उसने अपने कंधों में और अधिक कस लिया।

सहसा हवा का एक तीव्र झोंका आया। चिन्ता की अलकों से वह उलझ गया तो बालों की एक लट उड़कर जुगाई के गालों को छूने लगी। जुगाई का सारा शरीर जैसे सन-सन कर रहा हो। जैसे उसके शरीर के सारे अनुभव-तन्तु इन नवीन अनुभव को प्राप्त करने के लिए उसके गालों पर ही केन्द्रित हो रहे हों। आंखों के सामने फैले शून्य में लाल-लाल कुछ वृत बनने लगे। फिर वे वृत छोटे होने लगे। और धीरे धीरे फिर वे एक बिन्दु में परिवर्तित हो गए और फिर यह बिन्दु भी बदलने लगा। एक आकृति का रूप धारण करने लगा। पहले वह आकृति धुँधली थी फिर धीरे धीरे साफ होने लगी। उसे उसकी आँख, नाक मुँह सब जो पहले धुँधले से, दिखाई पड़ रहे थे अब स्पष्ट हो गए। चिन्ता की आकृति बिन्दु के उस फैले हुए वृत में जैसे गोलाकार में नाचने लगी।

और चिन्ता! वह शायद कुछ सोच रही थी। हर-हर्—खर-खर्। हवा बह रही थी। जुगाई ने अपनी चादर को और कसा। चिन्ता को जैसे स्थिति का ज्ञान हुआ। पूछा—"सर्दी लग रही है क्या?"

"नहीं, पर सारा शरीर शून्य होता जा रहा है।" जुगाई ने उत्तर दिया। वह मुस्करा दी।

"क्यों हंसीं?"

"यही सोच रही थी। सर्दी नहीं लग रही है पर शरीर तुम्हारा शून्य होता जा रहा है।"

"हाँ ऐसा ही है"

सहसा जैसे चिन्ता को कुछ ध्यान आ गया। वह बोली—"ओह ! बड़ी देर हो गई। अब मैं चलती हूँ।"

जुगाई को लगा कि जैसे कोई उसके हृदय को अपनी मुट्ठियों के बीच कस कर मसल रहा है। जी तड़पने को हो उठा पर वह अपने को संयत बनाये रहा। बोला—"अभी बहुत देर तो नहीं हुई।"

"पर मैं इतनी देर भी नहीं रह सकती। तुमसे कल आने को कह दिया था इसी लिए आई थी-वर्ना न आती।" चिन्ता ने उत्तर दिया।

"तुम्हे मेरा बहुत ध्यान था।" बात जुगाई के मुँह से निकल गई।

चिन्ता ने यह तो नहीं कहा था। चौंक कर उसने उसकी ओर देखा फिर उसके अधरो पर हँसी खेल गई।

जुगाई की भावुकता उभर आई थी। वह कहने लगा—"चिन्ता, तुम्हें जब से देखा है तभी से मैं जाने कैसा होता जा रहा हूँ। लगता है कि तुम मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व में बस कर रहना चाहती हो। मैंने कभी किसी से प्रेम नहीं किया और न जानता हूँ कि प्रेम क्या वस्तु है। पर लगता है जैसे तुमसे दूर रह कर मैं अंधकार के अगाध जल में जीवन-रक्षा के लिए तट खोजने का असफल प्रयत्न करता हूँ।

चिन्ता गम्भीर हो सुनती रही। जुगाई जाने क्या कहता जा रहा था यह तो वह सुन पा रही थी पर उसके हृदय में जाने कैसी व्यथा सी उठ रही थी। शरीर जैसे उसका भी शून्य सा होता जा रहा था। आखों के सामने की प्रकृति जैसे काली होती जा रही थी। और यह अंधकार, कालिमा जैसे उसकी ओर दौड़ी आ रही थी। वह आई, -और—और—।

चिन्ता ने अपने शरीर को सम्हालने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु जैसे वह निर्जीव हो उठी हो। शरीर उसका एक ओर को लुढ़क गया।

जुगाई के कंधों पर कुछ गिरा तो उसकी भावुकता पिघल कर

बखर गई। उसे फिर बटोरने की बात भूल उसने आखें फेर कंधे की ओर देखा और फिर उसी क्षण चिन्ता के गिरते हुए शरीर को उसने अपने हाथों से समेट लिया।

वाह्य संसार का समस्त ज्ञान सिमिट कर एक ही स्थान पर केन्द्रित हो गया। जुगाई ने अपने अधर चिन्ता के स्पन्दित अधरों पर धर दिए।

जैसे बिजली के छू जाते ही लोहे की मशीनें खड़ खड़ करके चलने लगती हैं उसी प्रकार अधरों पर जुगाई के गरम अधरों के छू जाते ही चिन्ता के शरीर में सभी कण जाग उठे। परन्तु उसमें उठने की शक्ति न रह गई थी। जुगाई की वे आखें जैसे उसे बांधे हुए थीं। अपनी बड़ी बड़ी आखें फैलाकर वह उसे निहारती रही और जुगाई उन्मत सा उन अधरों को चूमता रहा। जैसे शराबी बहुत अधिक उन्मत हो जाने पर गिलास को अधरों से हटाना नहीं चाहता। उसे लगता है कि शीशे का वह गिलास भी उसके तृप्ति की सामर्थ रखता है।

चिन्ता ने कहा—"हमारा यह प्रेम! इसका अन्त कहाँ जाकर होगा। कभी यह सोचा?"

"भविष्य की बात हम नहीं सोचते। सोचकर करें भी क्या? एक अदृष्ट है, जो सब में अपना हाथ रखता है।"

चिन्ता गम्भीर हो गई। बोली—"पर हम जीवन में एक नहीं हो सकते। हमारे परिवार—ओह कितनी बड़ी भूल मैंने की जो यहाँ आई।"

"चिन्ता!" जुगाई ने कहा। उसका हृदय भरा आ रहा था।

"क्या?"

"हमें यह सब न सोचना चाहिए।"

जाने को तैयार हो चिन्ता उठ खड़ी हुई तो बोली—"अब शायद हम महीने भर न मिलें।"

"क्यों ?" आहत हो जुगाई ने कहा।

"परसों मैं अपनी मौसी के साथ शहर जा रही हूँ।"

"ओह, चिन्ता। मत जाओ।"

"नहीं जाना ही पड़ेगा। माँ भी कहती हैं।"

"जुगाई चुप ही रहा तो चिन्ता ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा—"बोलो, तुम परसों हमें स्टेशन पर मिलोगे ? बोलो हाँ !"

"हाँ।"जुगाई ने उत्तर दिया

"तुम मुझे वहाँ देख तो सकोगे। शायद बातें हम न कर सकें। पर—।" वह कुछ आगे न कह सकी।

"अच्छा अब चले।"

"जिस दिन मैं बाहर से लौटूँगी उसी दिन तुम्हें खबर दूँगी।"

जुगाई कुछ न बोला।

एक बार दोनों फिर मिले और चिन्ता गाँव की ओर मुड़ गई। जुगाई कुछ दूर तक उसके साथ-साथ चला। जहाँ कासँ की पंक्ति का अंत होता है, वहाँ पहुँच कर वह रुक गया। चिन्ता चली गई और वह वहीं खड़ा चिन्ता को जाते हुए देखता रहा।

जब वह मोड़ पर पहुँचकर आँखों से ओझल हो गई तो जुगाई कांसे के कमजोर पेड़ों को पकड़ कर बैठ गया।

ग्यारह

गाड़ी सन्ध्या समय जाती थी। जुगाई को गाड़ी के समय से पहले ही स्टेशन पहुँच जाना है। पर स्टेशन वह जाय किस बहाने से ? कोई पूछेगा तो वह क्या उत्तर देगा ? स्टेशन कोई इतना निकट नहीं है कि कोई उसकी निष्प्रयोजन यात्रा पर संदेह न करे। और जब चिन्ता जा रही है तब तो उसे पहुँचाने को गाँव से कोई न कोई अवश्य ही जायगा। शायद स्वयं बाबू साहब ही जायँ। पर वे क्या जाएँगे। वे कहीं नहीं आते जाते। हो सकता है वे स्टेशन न जायँ। यदि न जायँ तो अच्छा ही है क्यों कि बाबू साहब के सामने जाते हुए उसे पता नहीं क्यों डर लगने लगता है। उसके मन में एक विचित्र भावना उठने लगती है। वह भय है या कुछ और सो तो वह नहीं कह सकता। इस विषय में तो उसे सोचने का भी अधिक अवसर मिला है। यदि बाबू साहब न जायँगे तो उनका नौकर तो अवश्य ही जायगा। सम्भव है वह शहर तक भी जाय पर नहीं, ऐसा शायद न होगा।

आज सबेरे जब वह चिन्ता के घर की ओर से जा रहा था तो उसने देखा था कि बाबू साहब के दरवाजे पर एक अधेड़ सज्जन बैठे थे। छोटी छोटी मूछें थीं, आँख पर चढ़े चश्मे को वे बार बार उतार कर कपड़े से साफ कर लेते थे, पतले-दुबले और शहरी व्यक्ति थे उसे जान पड़े। कोई मेहमान आया होगा। तो क्या इसी मेहमान के साथ आज चिन्ता जायगी। हो सकता है वह उसके साथ उस दिन

जो लड़की थी उसी का कोई हो। चिन्ता ने इस सम्बन्ध में तो उसे कुछ भी नहीं बताया। अपने जाने की सूचना ही उतने उसके पास केवल भेज दी थी। सूचना भेजने के लिए ही तो शायद उसने यह सब कुछ किया था। कितनी चतुर है वह! उसने कितनी चतुरता के साथ उसके पास समाचार भेज दिया कि किसी को कुछ संदेह ही नहीं हो सकता। स्वयं सन्देश लाने वाले को भी शायद इस भेद का पता न लगा होगा। उसे हँसी आ गई। किन्तु पता नहीं क्यों वह हँसी उसके अधरों पर ही सिमट कर रह गई। वह भला शहर कब जाता है जो उसे गाड़ी के जाने का समय ज्ञात रहे। जब वह ग्वालिन उसके पास आकर गाड़ी का समय पूछने लगी तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वह कुछ उत्तर नहीं दे सका। जिज्ञासावश पूछ लिया—"कौन जायगा?"

"बिटिया रानी और उनकी मौसी जायँगी। गाड़ी का समय नहीं मालूम था सो कहा पूछ आओ।"

"मुझसे?"

"हाँ।"

"किसने कहा था?"

"पता नहीं पर बिटिया रानी ने कहा कि तुम अभी हाल में शहर गए थे।"

जुगाई "नहीं" नहीं कह सका। क्षण भर वह उसी प्रकार सोचता रहा फिर उत्तर दिया—"हाँ, गया तो था पर भाई, गाड़ी का ठीक समय मैं कह नहीं सकता पता लगा कर तुम्हें बता सकता हूँ।"

ग्वालिन आश्चर्य से उसकी ओर देखती रही, शहर गया था गाड़ी से ही और गाड़ी का समय इसे नहीं मालूम। यह बात उसकी समझ में जैसे नहीं आ रही थी। कह दिया—"अच्छी बात है, मैं घर जा रही हूँ। लौटूँगी तब तक पूछ रखना। मैं तो समझी थी कि तुम्हें मालूम होगा।"

"मालूम होता तो मैं तुम्हें बता ही न देता।" कह कर जुगाई हँसा। ग्वालिन चली गई।

इस गाँव वाले धरती के एक सीमित वृत्त में ही रहते हैं, जिसका व्यास कभी फैल कर दूर तक नहीं जा पाता। जीवन में शहर जाने के दो ही चार अवसर किसी को मिलते हैं। और शहर जाकर वे करें भी क्या ? अपनी आवश्यकतायें उन्होंने सीमित कर रखी हैं; सप्ताह में दो बार पास ही दो मील पर एक गाँव में बाजार लगता है। बुध व शनीवार को बाजार से उन्हें अपनी जरूरत की सभी चीजें मिल जाती हैं फिर शहर जाने की झंझट कौन पाले, यह कष्ट कौन उठाए। और फिर कहते हैं कि शहर जा कर मनुष्य बहुत कुछ बदल जाता है। वह रामअधार था न, एक बार शहर गया तो शहर उसे कुछ ऐसा भा गया कि गाँव में उसके पैर टिकते ही नहीं। एक दिन जो गाँव छोड़कर चला गया तो फिर न लौटा। माँ-बाप रो-रो, कलप कर रह गए। बुढ़िया तो कहते हैं, उसी की चिन्ता में रो-रो कर अंधी हो गई। अब सुने हैं वह बम्बई के भी कहीं आगे सिलोन में रहता है। वहाँ समुन्दर लाँघ कर जहाज से जाना होता है। अब तो शायद वह माँ-बाप, गाँव सभी कुछ भूल गया होगा। कितनी दूर वह चला गया है। चिट्ठी भी तो साल में एक दो बार आती है।

ग्वालिन जब चली गई तो जुगाई अपने द्वार पर खड़ा क्षण-भर सोचता रहा। तभी उसे स्मरण आया—अभी अधिक दिन तो हुए नहीं, नवनीत अपनी गाड़ी लेकर गंगापुरवा गया था। स्टेशन के नाम ही तो गंगापुरवा है। गाड़ी का समय शायद उसे मालूम हो। सो वह दौड़ा हुआ नवनीत के पास गया। नवनीत वैसे ही हार से लौटा था। हाथ में डोल और रस्सी लिए वह कुएँ की ओर जा रहा था। जुगाई ने देखकर पूछा—"नवनीत, नहाने जा रहा है क्या रे ?"

"हाँ अभी हार से लौटा हूँ। बड़ी भूख लगी थी सो सोचा

चलो नहा धोकर ही खाना खाऊँ।"

"आज बड़ी जल्दी आ गया?"

"आ क्या गया? आज कल गन्ने की पिराई हो रही है, अभी खा कर फिर जाना है।" नवनीत ने उत्तर दिया।

वे कुएँ के पास आ गए। दोपहर के समय कुएँ पर बड़ी भीड़ रहती है। कारण यह है कि पास पड़ोस में बस यही एक कुआँ है। कभी इसमें चार मोट चलते थे। आस-पास के खेतों की सिचाई होती थी। पर अब तो यह सूख चला है। पानी सिंचाई भर को नहीं रहता। कहते हैं—बहुत दिन हुए एक बार एक साधू कहीं से घूमता-घूमता इधर निकल आया था। कुएँ की जगत पर मोट चल रहे थे। गर्मी का दिन था। वह साधू प्यासा था। उसने पानी पीना चाहा पर चमड़े के मोट का वह पानी भला कैसे पीता। किसी के पास लोटा-डोर भी उस समय नहीं थी। और फिर उतनी गरज किसे पड़ी थी या किसे इतना अवकाश ही था कि वह घर से रस्सी बाल्टी लाकर उसे पानी पिलावे सो उसे किसी ने भी पानी नहीं पिलाया और साधू प्यासा ही चला गया वहाँ से। हाँ जाते समय उसने कहा था—"कुएँ का पानी पीने के लिए पहले है, सींचने को बाद में।" कहते हैं उस दिन ही बस कुएँ का पानी सूख गया। दिन भर तो मोट चला। शाम को लोगों ने देखा कि कुएँ का पानी कम हो गया। फिर तब से सचमुच मोट के लिए पानी नहीं रहता। लोग अपने काम भर का पानी ही उसमें से भर पाते हैं।

जुगाई जाकर कुएँ की जगत पर बैठ गया। नवनीत ने भी रस्सी डोल धरती पर रख दिया और वहीं उसके पास बैठ गया। दोनों ओर औरतें पानी भर रही थीं। उनके घड़े जगत के किनारे एक कतार में सजाए से रक्खे थे। ये घड़े भी क्या हैं जो मुँह तक भरे रह कर भी सदा प्यासे ही रहते हैं। न जाने कितनों की प्यास इन घड़ों ने बुझाया

होगा, पर इन अड़ों की प्यास यह कुआँ भी अभी तक नहीं बुझा पाया। और ऐसा ही तो यह मानव है—जुगाई को लगा और वह सोचने लगा। मानव की प्यास कितनी शाश्वत है। बुझ तो वह कभी सकती ही नहीं।

दो ओर मर्दों की भीड़ थी। कोई पानी खींच रहा था कोई जगत की लकड़ी के कुंदों पर, जिसका वे पत्थर की जगह उपयोग करते हैं, नहा रहा था। और जो कुछ नहीं कर रहा था वह किसी न किसी से बातें ही बना रहा था। दोपहर के समय कुएँ पर अजीब आकर्षक दृश्य उपस्थित हो जाता है।

थोड़ी देर तक तो नवनीत और जुगाई दोनों ही चुप रहे। फिर नवनीत को मानो इस समय की यह चुप्पी खली तो उसने एक बार कुएँ पर किलोल करती औरतों की ओर ताका। उसकी मदभरी दृष्टि सीधे धनिया की ओर उठी। अहिर की यह छोकरी यौवन में उन्मत्त सी जल से भरा घड़ा खींच रही थी। चेहरे पर जैसे किसी ने अंगूरी शराब का भरा प्याला लुढ़का दिया हो। आँखों में जैसे अँधेरी रात सिमट कर जा बैठी हो। हाथों में चंचल गति थी। पानी खींचते हुए उसकी समस्त देह यष्टि बार-बार बल खा उठती थी। नवनीत ने मुस्करा कर कहा—"धनिया धनिक मेरा डोल भी भर दे रे!"

"तुम्हारे हाथ पैर नहीं हैं क्या?" मुस्करा कर उसने उत्तर दिया तो सारी औरतें नवनीत को घूरने लगीं।

नवनीत ने भी अपनी डोल उठाई और कुएँ की जगत पर चढ़ गया। रस्सी में डोल बाँध उसने कुएँ में डाल दिया। जुगाई उसी प्रकार बैठा रहा।

डोल खींचकर जब नवनीत ने जगत के किनारे रख दिया तो सहसा जुगाई ने पूछा—"नवनीत तू, उस दिन गंगापुरवा गया था न।"

"हाँ गया तो था।"

"तो शहर वाली बात कहाँ तक आगे है!"

"क्यों, शहर जायगा क्या ?"

"नहीं ऐसे ही पूँछ रहा हूँ ।"

"ऐसे तो कोई नहीं पूछता ।"

"देख अगर तुझे मालूम हो तो बता दे ।"

"तू मुझसे पूछ कि सामने वाले खेत में कितने पेड़ हैं ।"

"यह मैं क्यों पूछूँ ?"

"तो शहर की गाड़ी को ही क्यों पूँछता है ?"

"अरे मूर्ख यह बात और है ।" जुगाई ने मुस्करा कर उत्तर दिया ।

"अरे यार मुझसे छिपाकर तू रह नहीं रखता । जा न बताऊँगा !"

"तू बता दे फिर मैं भी तुम्हें बता दूँगा ।"

"नहीं पहले तू ही बता ।"

जुगाई ने चुपके से उसके कान में कह दिया ।

नवनीत हँस पड़ा । बोला—"तो यह कह, अब यह दशा है तेरी । अरे यह दुनिया ही स्टेशन है । स्टेशन. जहाँ गड़ी आई खड़ी हुई, सीटी दी और फिर चल दी । इसका भी कोई ठीक है !"

"देख बेकार की बातें न कर ।" खिजला कर जुगाई ने कहा ।

"यह बेकार की बातें क्यों है । मान, जो कहता हूँ सो ठीक है । यह प्रेम भी कहीं के शहर की गाड़ी है । स्टेशन आया, रुकी । बस इतने में जो चढ़ गया सो चढ़ गया, जो रुक गया सो रुक गया ।"

"और जो चढ़ जाता है, वह भी तो अधिक देर तक नहीं चढ़ा रह पाता । किसी न किसी स्टेशन पर उसे उतरना ही पड़ता है ।"

"तेरी इन बातों को सुनने का मेरे पास समय नहीं है ।"

"पर अभी गाड़ी का समय नहीं हुआ।"

"फिर कब होगा ?"

"बड़े दिन डूबते छूटती है ।"

"बस यही जानना था ।"

"उस दिन गंगापुरवा से आ रहा था तो दिन डूबे मुझे गाड़ी.

स्टेशन पर मिली थी।" नवनीत ने कहा।

"अच्छी बात है, मैं चला।" जुगाई ने कहा।

"पर एक बात तो बता।"

"क्या?" जुगाई ने मुड़ कर पूछा।

"तो तू स्टेशन जायगा क्या?"

"हाँ जाऊँगा पर पहले हमें समय बताना है।"

"किसे?"

"वहीं की ग्वालिन आई थी, गाड़ी का समय पूँछ रही थी।"

"अच्छा तो उसने तुमसे समय पुछवाया है।"

"हाँ।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"तो यह कह कि आज कल तू बड़े गहरे में है।"

इस पर जुगाई मुस्करा पड़ा और बोला - "अच्छा चलता हूँ, कल मिलूँगा।"

"देख जो तू लौट पाए तब न।" मुस्करा कर नवनीत ने कहा।

जुगाई आगे बढ़ गया था। नवनीत की बात जैसे उसने सुनी नहीं। ग्वालिन उसे रास्ते में ही मिली। गाड़ी का समय भी उसने बता दिया और घर की ओर चला गया।

स्टेशन जाने के लिए उसे माँ से कुछ बहाना बनाना होगा। गाड़ी बड़ी देर से आती है। स्टेशन पाँच मील से कम नहीं है और लौटते-लौटते भी तो आधी रात हो जायगी। जुगाई बहुत देर तक विचार करता रहा। माँ से कहने को उसे कोई उपाय न सूझ पड़ा। अन्त में उसने निश्चय किया कि वह माँ से बिना कुछ कहे चला जायगा पर देर होने पर माँ अवश्य ही परेशान होगी। उसने सोचा कि वह नवनीत से कह देगा कि वह शाम को आकर माँ को ढाढ़स बंधा देगा और दोपहर ढलते ही वह घर से निकल पड़ा।

नवनीत अपने गन्ने के खेत पर ही होगा। उसका खेत रास्ते में ही पड़ता था। जुगाई लोगों की दृष्टि बचाता हुआ गाँव से बाहर

निकल रहा था तो उसने देखा कि बाबू साहब के दरवाजे पर तीन डोलियाँ रक्खी हुई हैं। अभी वे लोग चले नहीं पर जान पड़ता है अब जाने को ही हैं। लम्बे कदम बढ़ाता वह नवनीत के खेत के पास पहुँचा। खेतके किनारे एक खाली जगह में रस पेरने की चरखी बनी हुई थी। नवनीत बैलों को हाँक रहा था। जुगाई को देख कर मुस्करा दिया।

नवनीत का पिता मड़ैया में था। गुड़ बनाने में उसका हाथ गाँव में सब से अच्छा है। कभी उसका कड़ाहा जला नहीं और ताव भी सदा अच्छा ही उतरता आया है। गाँव में जब दूसरे भी गुड़ बनाने लगते हैं तो उसे अवश्य ही पकड़ लेते हैं। नवनीत का छोटा भाई चरखी के पास बैठा हुआ रस का घड़ा उठा-उठा कर कड़ाहे तक ले जाता था। जब जुगाई वहाँ पहुँचा तो वह भरे हुए घड़े को हटा कर खाली घड़ा ला रहा था।

नवनीत ने कहा—"लल्ला, आ तनिक देर तू तो हाँक मैं आ रहा हूँ।" और हाथ के पैने को उसने उसकी ओर फेंक दिया और खुद जुगाई की ओर बढ़ आया। निकट आकर उसने जुगाई से पूछा—"जा रहे हो क्या?"

"हाँ।" जुगाई ने उत्तर दिया।

नवनीत ने एक बार चरखी की ओर देखा। उसका छोटा भाई बैलों को हाँक रहा था। नवनीत ने कहा—"आ जुगाई तेरा मुंह मीठा कर दूँ, शुभ कार्य के लिए जा रहा है न।"

"हाँ, पर नहीं चाहिए मुझे मीठा मुँह।"

"शुभ कार्य में जाते समय ऐसा नहीं कहते रे मूरख।"

जुगाई उसके पास आकर खड़ा हो गया। नवनीत ने अपना लोटा उठाया और चरखी के ऊपर घड़े से लगा दिया। लोटा भर गया तो उसे उसने जुगाई के हाथों में पकड़ा दिया।

"अरे इतना अधिक! पूरा तो भरा है। भला इसे कैसे पी

सकूँगा ?"

"शहर जा रहा है न !" नवनीत हँस पड़ा।

जुगाई ने कुछ उत्तर न दिया और बैठ कर लोटे का रस पीने लगा।

रस पी कर वह उठ खड़ा हुआ। नवनीत उसके साथ-साथ चलने लगा। चरखी से थोड़ी दूर आ कर वह बोला—

"जुगाई, अकेले लौटने में मुझे बड़ी रात हो जायगी। मैं तो खाली नहीं हूँ, वर्ना तेरे साथ चलता।"

"तू मेरे साथ मत चल, पर शाम को घर जा कर कह देना कि रात मैं तेरे ही घर पर रह जाऊँगा।"

"अरे, यह कैसे होगा ? कहीं माँ को मालूम हो गया तो ?"

"मालूम कैसे होगा। रात स्टेशन से लौट कर मैं वहीं रह जाऊँगा।"

नवनीत थोड़ी देर तक सोचता रहा, फिर बोला—"अच्छी बात है। मैं भी आज रात को वहीं रहूँगा। अब तू जा मैं जाकर माँ से कह दूँगा।"

"हाँ !" और स्नेह से उसने नवनीत की पीठ ठोंकी।

फिर जुगाई चला गया और नवनीत चरखी की ओर वापस लौट आया। जुगाई स्टेशन की सड़क की ओर बढ़ गया। इस समय उसके मस्तिष्क में अनेक प्रकार के विचारों का द्वन्द्व मचा हुआ था। क्या वह यह सब व्यर्थ कर रहा है। स्त्री को प्रेम मनुष्य केवल इसलिए करता है कि स्त्री के निकट से कुछ वह पाने के लिए उत्सुक रहता है। यदि प्रेम में प्राप्ति की भावना न हो तो शायद वह प्रेम न कर सके। चित्रा को वह प्रेम करता है पर प्रेम करके भी तो वह सन्तुष्ट नहीं है और न उसके हृदय को शान्ति ही प्राप्त हो सकती है। वह चाहता है कि चित्रा उसकी हो जाय पर क्या वह कभी चित्रा को अपनी बना सकता है ? ऐसा वह कैसे सोच सकता है ? चित्रा उससे कितनी दूर है। कोई भी तो आशा नहीं कि वह उसे कभी प्राप्त कर सकेगा।

उसके माता पिता कभी क्या यह स्वीकार कर सकेंगे ? कदापि नहीं। यदि उसके घर वालों को तनिक भी सन्देह हो गया तो चिन्ता की क्या गति होगी। पर क्या चिन्ता यह नहीं जानती ? वह सभी कुछ तो समझती है। जब वह मुझसे इतनी दूर है तो फिर वह क्यों इस प्रकार आशा दे रही है। क्यों वह इस प्रकार मुझे अपना लेने को व्याकुल है ? शायद स्त्री के जीवन का यही रहस्य है। किसी को अपनाए बिना तो वह जी रह भी नहीं सकती।

जुगाई को स्मरण हो आया—अपनी भूलों का। कितनी बड़ी भूल उसने की है—प्रेम में फंस कर, जब उसने चिन्ता को नहीं देखा था तब वह कितना स्वतन्त्र था। उसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। उसने चिन्ता के प्रति अपने हृदय में एक मधुर भावना पैदा करके अपनी आजादी को गंवा दिया। वह अनुभव करता है कि आज वह जो चाहता है वह नहीं कर सकता। जो उससे कराया जा रहा है वही वह करता है। जैसे कोई उसके भीतर आ बैठा हो। जो उसकी समस्त इन्द्रियों को अपने इंगित पर नचा रहा हो, उन्हें आदेश देता हो और उसके आदेश पर ही वह सारा काम कर रही हो। और क्या यह गुलामी नहीं है। प्रेम भी तो ऐसी ही गुलामी है, दासता है। और उससे दासता कभी सही नहीं गई। कभी उसने किसी के आदेश पर काम करना नहीं सीखा। उसकी प्रकृति इसकी विद्रोही है। उसका यौवन सचमुच विद्रोह कर उठा। उसे लगा उसने अपने यौवन को गलत रास्ते पर लगा दिया है। उसे दासता स्वीकार करने को बाध्य किया गया है। क्या यह उसकी भूल नहीं है ?

यौवन वह शक्ति है जो मनुष्य को जीवन में एक बार, केवल एक बार ही मिलती है। इसको पाकर मनुष्य एक बार सब कुछ करने को; कर सकने की प्रेरणा को प्राप्त करता है। यौवन की सब से बड़ी विशेषता यह है कि मनुष्य किसी की दासता, के सम्मुख सिर झुकाने को तैयार नहीं होता। वह चाहता है कि वह अपना मार्ग अपने आप निश्चित

करें। किसी का आदेश वह नहीं चाहता। यौवन अपने साथ विरोध लेकर मनुष्य में प्रवेश करता है। उसमें शैशव का हट, यौवन का उत्साह और थोड़े में निर्णय होता है। जो एक बार वह निश्चय कर लेता, है उस पर मर मिटने की उसमें शक्ति होती है। और इसी यौवन को क्या वह दासता की बलि पर चढ़ा दे? उस का हृदय पुनः विद्रोह कर उठा। उसके मन में आया कि वह घर लौट जाय। प्रेम की दासता वह स्वीकार न कर सकेगा। यौवन की इस शक्ति को क्यों वह दासता में लगा दे, क्यों न उसका वह किसी अच्छे काम में उपयोग करे।

अब तक चलता-चलता वह स्टेशन के रास्ते पर आ गया था। पर कब, इसका उसे स्वयम् अनुभव न हो सका था। नहीं? नहीं! वह लौट जायगा—। अवश्य लौट जायगा। चिन्ता को सदा के लिए भुला देगा! भुला देगा!!

यहाँ से स्टेशन का सीधा रास्ता है। किसी समय में यह सड़क रही होगी, पर आज वह परितक्ता की भांति धरती पर पड़ी हुई थी। वह थोड़ी देर तक, दूर क्षितिज में विलीन होती हुई सफेद सड़क को ही निहारता रहा। जब वह लौटने को था कि उसे पीछे से तीनों डोलियाँ आती दिखाई दीं। उसका दिल जैसे बैठने लगा था। उसे लग रहा था जैसे कोई बहुत बड़ी बात होने जा रही थी। जैसे कोई उसे ऊपर से दबा कर बिठा देना चाह रहा हो। पैरों में जैसे कोई शक्ति ही न रह गई हो। वे डगमगाने लगे किसी शराबी के पावों की तरह। सड़क के किनारे आम का एक पेड़ लगा हुआ था। जिसकी डाल नीचे को लटक आई थी। सहारे के लिए उसने उस डाल को पकड़ लिया। तब वहीं सहारा पा वह खड़ा रह सका। डोलियाँ निकट आ गईं। उसकी आखें जैसे बंद होने लगीं। तभी उसकी नजर पीछे वाली डोली पर पड़ी। तीनों डोलियों पर पर्दे पड़े हुए थे। पीछे वाली डोली के दरवाजे धीरे धीरे अधिक खुल गए। सामान लिए हुए दोनों नौकर अभी पीछे ही थे।

जुगाई की आंखों में जैसे ज्योति आ रही हो। जैसे उसे कहीं से प्रकाश मिल रहा हो। परदे की दरार को पार कर, उसकी आखें जाकर डोली के भीतर चमकती एक कान के झूमके पर जम गईं। तभी वह सिर भी घूमा। जुगाई की आखों से दो चमकती-चमकती सी टकरा गईं। आखें थीं वह किसी की। जैसे सरिता पर चलती नाव पर जाते हुए यात्री की आखें नदी और आसमान के मिलन बिन्दु पर जाकर चिपक जाती हैं। डोली के भीतर की आखें जैसे मुस्करा रही थीं। जुगाई के हृदय में जैसे भूली बातें फिर याद आ रही थीं। जैसे उसकी आखों के आगे का अंधकार छन कर हटा जा रहा हो। जैसे वह किसी खोई हुई शक्ति को प्राप्त कर रहा हो। डोली उसके सामने आ गई तो परदा और खुल गया।

पृथ्वी पर एक पतली सी दरार थी वह फैल कर चौड़ी हो गई। भीतर अंधकार के बीच साक्षात परी पैदा हो गई थी। चिन्ता का चेहरा उसे देख कर खुशी में डूब गया। वह हंस पड़ी। आंखों ही आखों में उसने मानो कुछ कहा। अब तक डोलियाँ आगे खसक कर बढ़ गई थीं पर जुगाई पहले का सा खड़ा रहा।

अभी तक उसने जो भी सोचा था शायद अब तक वह भूल गया था। किसी अज्ञात प्रेरणा वश वह स्टेशन की ओर तेजी से बढ़ने लगा। जैसे डोली की वह हिलती हुई रेखा उसे अपने साथ खींचे लिए जा रही थी। जैसे एक वही पहले वाली शक्ति उस पर शासन करने लगी थी उसके रगों में वह गर्म रक्त बन कर व्याप्त हो गई थी।

इसी तरह स्टेशन का वह लम्बा मार्ग कट गया। स्टेशन की छोटी सी इमारत जैसे लगा जुगाई को कि साकार हो कर उठ रही हो। वह उसे बराबर देख रहा था! लोहे की पड़ी हुई उदास पटरियाँ सूर्य की मिटती हुई किरणों में चमक रही थी। जुगाई को लगा कि लोहे की यह पटरियाँ यदि सजीव होतीं तो क्या रेल के इस असाध्य भार

को सह सकतीं। क्या वे अपने हृदय पर इतनी भारी ट्रेनों को दौड़ने देतीं। पर शायद उसके निर्जीव होने का ही मनुष्य ने लाभ उठाया है उन्हें अपनी इच्छा पर चलने को बाध्य किया है।

स्टेशन के प्लेटफार्म के किनारे तार के निकट वे डोलियाँ उतरीं। जुगाई डोलियाँ उतरती देख तार के निकट खड़े पीपल के बड़े पेड़ के साथ खड़ा हो गया। सिर पर पीपल के आपस में रगड़ खाते पत्ते थे। नौकर अब तक सामान रखकर तम्बाकू पीने के लिए चले गए थे। इतनी दूर तक इतना बोझा लाद कर लाने के बाद तम्बाकू की दो फूँक ही पीकर अपने को शान्त करने की प्रबल इच्छा को वे न रोक सके। साथ ही चश्मा वाले जो वयस्क सज्जन आए थे, लौटकर प्लेटफार्म पर टहलते रहना ही शायद उन्होंने उचित न समझा और स्टेशन में जाकर बैठ गए।

तीसरी डोली का परदा खुला। चिन्ता ने मुस्करा कर जुगाई को निहारा। फिर सहसा डोली से बाहर निकल आई। जुगाई ने तो समझा कि शायद घण्टों से छाई बदली की छाती को चीर कर हँसता चाँद निकल आया है। आँखें मल कर उसने भ्रम दूर कर लिया। दूसरी डोली का पर्दा हटा कर उसने कुछ कहा—धीरे से। उत्तर में किसी ने कहा— जरा जोर से —"देखो दूर न जाना न जाने कोई गाँव का आया हो!"

"नहीं मौसी! भला यहाँ अपने को कौन जानेगा।" चिन्ता ने मुस्करा कर कहा और एक ओर को चल पड़ी।

चलते हुए उसने एक बार जुगाई की ओर देखा, तो जुगाई को लगा जैसे वह उसे अपने पीछे आने का इशारा कर रही हो। जुगाई भी उसी ओर चल पड़ा। थोड़ी दूर पर अरहर का एक खेत पसरा पड़ा था। इस साल तो अवश्य ही इस खेत में पर अरहर खूब होगी। आदमी के बराबर ऊँचे ऊँचे उसके पेड़ किसान के परिश्रम और सौभाग्य की बात बता रहे थे। खेत पार कर वह रुक गई। जुगाई निकट

आया तो उसने कहा—"तुम आ गए, मैंने तुम्हें कहला दिया था।"

"हाँ।"

"हम जानते थे कि तुम अवश्य आवोगे।"

जुगाई के जी में तो आया कि वह कहे कि आधे मार्ग पर से तो वह लौटा जा रहा था—कहो लौट न सका, यही बड़ी बात हुई। किंतु वह कुछ नहीं बोला।

क्षण भर चुप रह कर उसने फिर पूछा—"तुम कब तक लौटोगी।"

"कुछ कहूँगी नहीं, हो सकता है पन्द्रह दिन लगें। जिस दिन आना होगा तुम्हें तो खबर दे ही दूँगी।"

"कैसे खबर दोगी?"

"चिट्ठी भेजूँगी।"

"अच्छा।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"तुम परेशान क्यों हो?" चिन्ता ने पूछा।

"परेशान नहीं हूँ।" जुगाई बोला—"पर सोचता हूँ—तुम न रहोगी तो मेरा समय कैसे कटेगा। तुम्हें देख हमें जाने कैसा लगता है!"

चिन्ता हँस पड़ी। उस हँसी में विषाद था। बोली—"तुम पागल हो। जानते नहीं, दूर रहने पर हमारा प्रेम और भी दृढ़ हो जायगा।"

"देखो मैं डरता हूँ कि कहीं तुम हमें भूल न जाओ।"

"जान लो! स्त्री जिसे प्रेम करती है, भूलती नहीं।"

"पर चिन्ता! अभी तक तो तुम मेरे लिए मृग-मरीचिका ही रही हो।"

"क्यों?"

"सोचा है कभी? हमारे प्रेम का अंत क्या होगा?"

"जो होना चाहिए।"

"नहीं। कभी कभी हम सोचते हैं कि शायद तुम्हें मैं प्राप्त न कर सकूँ और तुम्हारे लिए हमें रोना ही पड़े।"

"नहीं, तुम्हें तो कम से कम ऐसा नहीं ही सोचना चाहिए।

निराश होना तो नारी का काम है।"

'हाँ, है तो यह नारी का ही काम।'—जुगाई ने अनुभव किया। पर अपने हृदय पर वह विजय जो नहीं पा रहा था। वह चुप खड़ा रहा तो चिन्ता ने कहा—"देखो अब अधिक देर तक मैं नहीं रूकूँगी वे लोग जाने क्या सोचें।"

जुगाई ने कुछ उत्तर न दिया।

चिन्ता ने फिर पूँछा—"तुम्हें और किसी ने देखा तो नहीं।"

"मैंने तो किसी को नहीं देखा।"

वह मुस्करा दी।

जुगाई उसकी आखों में भीतर निहार रहा था। मानों पानी के नीचे मछली पर आँख गड़ी हो। तभी जाने किस अज्ञात प्रेरणावश वह चिन्ता की ओर बढ़ा।

एक पग·······!

दो पग·····;···!!

उसकी साँसों का ताप चिन्ता अपनी गालों पर स्पष्ट अनुभव करने लगा। फिर आकुल हो चिन्ता को उसने अपने कम्पित बाहुपाश में कस लिया। दूसरे ही क्षण अँधा हो, अपनी समझता वस्तु पर उसने मुहर लगाई, स्थाई बनाने को। जुगाई ने चिन्ता को चूमा। अपना अस्पष्ट पर असिट चिन्ह उसने बना दिया। चिन्ता आपत्ति न कर सकी, शायद इतनी शक्ति ही नहीं थी। जुगाई ने दूसरी बार गर्दन लम्बी की। पुनः वैसा ही कुछ करने को। पर शायद दुहराना अन्याय था। तो चिन्ता ने झटक कर अपने को उन लम्बे सुघड़ बाहुओं से मुक्त कर लिया। साड़ी का पल्ला उसका भाग कर सिर से नीचे, काफी नीचे ढुलक गया था।

चिन्ता ने एक बार ही एक दृष्टि में चारों ओर देख लिया फिर जैसे अपने शरीर का उसने कुछ वहाँ गिरा दिया था सो पल्ला सिर पर रखकर साड़ी को बदन में अच्छी तरह चिपका कर कस लिया।

"पूरे वही हो।" कह कर रोषपूर्ण आखों से उसने जगाई को देखा। मानो कह रही हो—मेरा कुछ नहीं बिगड़ा।

फिर क्षण भर की शान्ति के बाद उसने ही पुनः कहा—"अच्छा अब मैं जाती हूँ। तुम गाँव लौट जाओ।"

"नहीं। गाड़ी छूट जाने दो।" जुगाई ने कहा। कुछ हकलाकर।

चिन्ता चली गई। जुगाई उसे जाते देखता रहा। इस बार चिन्ता उसे अधिक अपने में बसी मालूम हुई। वह कब तक इस प्रकार खड़ा रहा, उसे तो ज्ञात नहीं। सहसा जब गाड़ी के आने की गड़गड़ाहट ने उसका दिल दहला दिया तो वह जल्दी-जल्दी चलकर पेल्टफार्म के पास आया और तार पकड़ कर खड़ा हो गया।

इस समय उसका मस्तिष्क दिमाग से बिलकुल ऊपर निकल कर आराम कर रहा था।

गाड़ी आकर खड़ी हो गई। कहारों ने डोलियाँ उठाई और सवारियों को डिब्बे में चढ़ा दिया। जुगाई की दृष्टि एक टक चिन्ता पर टिकी थी। चिन्ता जाकर सामने की बर्थ पर खिड़की के पास बैठ गई और बाहर की ओर देखने लगी।

उसकी आखें जुगाई पर थीं। चिन्ता का चेहरा हँस रहा था और जुगाई का, उसे तो किसी ने नहीं देखा। थोड़ी देर खड़ी रहकर ट्रेन, एक बार जोर से चिल्लाई और उसके पहिए डोलने लगे। क्रमशः जुगाई की आखों में सब कुछ डोलने लगा। बस लम्बी सांस ले शून्य में निहारता रहा, ज्योति को।

बारह

जुगाई जिस समय स्टेशन से रवाना हुआ उस समय अंधकार छा गया था। रात का अंधकार जैसे नीले आसमान से चूकर समस्त पृथ्वी पर बिखर उठा था। दूर तक फैले हुए खेत अधिक गहरे और काले हो गए थे। पेड़ों की पंक्तियाँ काले दैत्यों की भाँति शून्य में खड़ी हुई थीं। जब हवा चलती थी तो वे सिहर सी उठती थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता जैसे समस्त शून्य चंचल हो उठा हो, धरती के ऊपर शून्य और अंधकार का सागर लहरा रहा हो उस सागर में जुगाई अकेला किसी सीपी की भाँति तैर रहा हो। कभी वह अंधकार की उस महा जलराशि के नीचे चला जाता और कभी फिर ऊपर आ जाता। कभी क्षण भर को वह अपना सिर उठाकर सास लेने लगता।

अंधकार को चीर कर एक सड़क बिछा दी गई है, किनारे किनारे महुए के विशालकाय वृक्ष लगे हुए थे। उनकी छाया ने सड़क के मुँह पर जैसे अवगुंठन डाल दिया हो फिर भी लोगों के चलने से सफेद बन गई है। सड़कों के किनारों की पगडंडियाँ, गाड़ियों की गहरी लीकें और पेड़ों के नीचे बने थालों के आकार धुंधले से झलक रहे थे। थोड़ी दूर, जो जुगाई को क्षितिज के पास लग रहा था, पर जाकर सड़क अंधकार में छिप गई थी। किनारे के पेड़ों की छाया अंधकार में एकाकार हो गई थी। जुगाई को लग रहा था जैसे वह किसी गहरे समुद्र के गर्भ

में पग बढ़ा रहा हो। उसे लगा मानो उसके चारों ओर कुछ नहीं, केवल अंधकार कल-कल कर रहा हो। सड़क पर चलते हुए पेड़ों के नीचे से जहाँ पेड़ों की पंक्तियों कुछ टेढ़ी हो गई थीं उसे आसमान में चमकते हुए तारों की झलक मिल जाती थी। तब उसे ऐसा लगता जैसे ये तारे भी उसके साथ-साथ ही चल रहे हों। जैसे जीवन में वह अकेला रह गया हो और ठीक भी तो है, जुगाई सोचने लगा—जीवन में वह अकेला ही है, अकेले ही इस अंधकार सागर में वह अपना मार्ग टटोल रहा है। एक-एक पग पर उसे ऐसा लगता है जैसे आगे बहुत घना अंधकार है। वह गिर पड़ेगा और तभी अंधकार से जैसे कोई उसे गिरने से रोक लेता है।

ऐसा क्यों होता है? उसने तारों की ओर देखा। झिलमिल करते हुए वे एक बार भभक कर चमक उठे। मानो वे उसे देखकर विहंस उठे हों, जैसे कह रहे हों—तुम एकाकी हो, हम भी तो एकाकी हैं और हमारा पथ तुमसे कितना लम्बा है! युगों से तो हम चलते आए हैं। धरती की तो हमने जाने कितनी बार परिक्रमा कर डाली है पर क्या आज तक हमारा पथ पूरा हो सका है? जुगाई को लगा कि वह इस संसार में अकेला है। अकेला, बिल्कुल ही अकेला। आसमान के झिलमिलाते इन तारों की भाँति वह भी एक अलग इकाई है। नभ में ये तारे निकले रहते हैं। बराबर चलते भी रहते हैं पर एक दूसरे से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। वे हर एक अलग इकाई हैं। कहते हुए यह तारे भी एक एक लोक हैं। इनमें भी एक दुनिया बसी होगी। कितनी चहल-पहल होगी। पर वे बेचारे सब शून्य होंगे। उनको तो अपना पथ अकेले ही पूरा करना पड़ता है। और वह स्वय भी तो ऐसा ही है। उसके हृदय में इन तारों से क्या कम अरमान है? क्या वह कम इतराता है! चाहे तो वह उनसे एक नई सृष्टि कर सकता है। पर अपना पथ तो उसे अकेले ही चलना पड रहा है। वह भी एकाकी है ठीक इन्हीं तारों की भाँति। यह पेड़ भी शायद उसी की

भाँति एकाकी होंगे। पर नहीं। यह तो खड़खड़ करके अपनी व्यथा एक दूसरे से कह लेते हैं। मन की व्यथा को किसी पर प्रकट कर देने से दर्द कुछ कम हो जाता है। कुछ राहत भी मिलती है। पर यह तारे तो किसी से कुछ कह नहीं पाते। अपनी आँखें खोले वे रात भर निहारा करते हैं। उनकी इस चितवन में कितनी व्यथा है, कितना पीड़ा है? तारों के लिये उसका हृदय द्रवित हो उठा। उसे लगा कि जग ने इनकी व्यथा समझा नहीं, लगा कि ये बेचारे सब कुछ अपने आप सह लेते हैं, सहने को बाध्य हैं। जुगाई एक पेड़ के नीचे रुक गया। पत्तियों के बीच से आसमान का कुछ कण झलक रहा था। वह खड़ा हुआ ऊपर को निहारता रहा। कुछ तारे झिलमिला रहे थे, उनकी इस झिलमिल में उसने अपने अन्तर की व्यथा को पढ़ने का उपक्रम किया। ओह, वह सब कुछ समझ रहा है यह तारे भी उसी की भाँति वियोगी हैं। उनकी प्रेयसी इनसे कहीं दूर चली गई है। और ये उसी की प्रतिक्षा में रोशनी लिए खड़े निहार रहे हैं। शायद इस जगत को, यहाँ के प्रेम व्यवहार को और प्रणय व्यापार की क्षणभंगुरता को यह जानकर, धरती के इस व्यवहार को देख कर मुस्कराते रहते हैं। पर जब उनकी बात कोई समझे तब न! जब कोई उनकी व्यथा का अनुमान करे तब न। अपनी व्यथा वे किसी से कहते भी नहीं। और यह अच्छा ही है नहीं यदि अपनी व्यथा वे जगत को सुना सकें तो संसार से प्रेम सदा के लिए उठ जाय।

जानकर कोई इनकी व्यथा का उठाने के लिए क्यों साहस करेगा मुड़कर उसने पीछे की ओर देखा। स्टेशन की लालटेन टिमटिमा रही थी। अंधकार में उसे यह रोशनी की लौ अजीब सी लगी। दूर पर लाइन के किनारे खड़े सिगनलों में लाल हरी रोशनी दिखाई पड़ रही थी।

एक—दो—तीन—चार! कई रोशनियाँ थी। जुगाई को लगा जैसे ये भी तारे ही पर पृथ्वी के अधिक निकट उतर आए हों। और

शायद यह कभी धरती के वक्षस्थल पर लोट कर अपनी व्यथा बहा दें। पर क्या चन्दा, तारों की बड़ी व्यथा को वह धरती सभाँल सकेगी। व्यथा का एक सागर वह उठेगा। और सारे प्राणी उससे तिरोहित हो जायँगे। यह पेड़! पेड़ पर की चिड़ियाँ? ये सभी गायब हो जायँगी। पृथ्वी पर केवल वेदना ही रह जायगी।

ओह! कितना करुणा मय वह क्षण होगा? नहीं इन तारों का धरती पर न उतरना ही अधिक अच्छा होगा। अच्छा है यदि वे ऊपर ही टंगे रहें। पर नहीं, ये तारे तो नहीं हैं। तारे तो बहुत दूर आकाश में ही रहते हैं। धरती को वे अपना प्रकाश देते हैं, साहस देते हैं, भला फिर वे अपनी व्यथा क्यों देंगे। और यह उनके ही वश की बात है। नहीं, एक जुगाई भी तो है जो अपनी व्यथा किसी से कहने के लिए बेचैन हो रहा है। बिना कहे जैसे वह अब रह नहीं सकता।

उसके मन में बड़ी 'बिथा' उठी और लगा कि वह इस शून्य अंधकार में जहाँ और कोई नहीं है, जहाँ उसे देखने वाला भी कोई नहीं, वहीं बैठकर सारी रात काट दे। अंधकार से उसे भय भी नहीं लगा। शंका भी नहीं लगी और न वह अब अपने को एकाकी ही अनुभव कर रहा है। उसे लगा कि यह तारे, यह पेड़, यह हवा, यह सोते हुए खेत और सब से ऊपर उससे अठखेलियाँ करता हुआ। यह अंधकार उसके जीवन का साथी है। इनसे तो वह अपनी व्यथा कह ही सकता है। ये उसके साथ सहानभूति पैदा कर सकते हैं। इनसे उसे राहत मिल सकती है। फिर रात में या दिन में घर जाय तो उससे क्या? इससे कुछ होता जाता तो नहीं। वह एक इकाई है जिसका इन अंधकार-मय तारों और पेड़ों से ही सम्बन्ध है। किसी और को उसके सम्बन्ध में चिन्तित होने की आवश्यकता ही क्या है? वह सारी रात इस अंधकार में घूमता रहेगा। तारों और अंधकार के प्रति उसे एक प्रेम उपजा। वे ही उसके अपने लगे—बिल्कुल अपने, सच्चे, सगे सम्बन्धी।

सड़क समाप्त हो रही थी। वह भी थक गया था। सड़क के किनारे

पेड़ की एक डाल टूट कर गिर पड़ी थी। उसकी पत्तियाँ जानवर चर गए थे। केवल चन्द पत्तियाँ अभी तक ठूँठ से चिपकी हुई उसके बीते जीवन की याद दिला रही थीं। इन सूखी पत्तियों का मोह शायद अभी कम नहीं हुआ था, इसीलिए तो वे इस ठूँठ को नहीं छोड़ रही थीं। पर सूख तो वे गई ही हैं। जहाँ हवा का एक झोंका आया कि वे डाल से अलग हुईं। और यही तो मानव का भी जीवन है। किन्हीं आशाओं से वह लिपटा रहता है। पर जब वे आशायें पूरी नहीं होती तो उसका हृदय सूख जाता है। इन्हीं पत्तियों की तरह। और फिर तो एक झोंके की केवल आवश्यकता रहती है। झोंका आता है उनके जीवन में तूफान की तरह। फिर उनका कोई ठिकाना नहीं रहता। झोके के साथ जब वह आशा की डाली से टूट गया तब फिर उसका कोई सहारा नहीं रह जाता। हर एक झोंका, उसे एक न एक दिशा की ओर कुछ दूर तक उड़ा देता है और फिर वहीं धूल पर छट-पटाता छोड़कर निर्दई की भाँति चल देता है। झोके के साथ उड़ने की उसमें अधिक शक्ति भी तो नहीं रहती। फिर वहीं पर पड़ा-पड़ा वह दूसरे झोके के आने की प्रतीक्षा करता रहता है। यही है मानव! यही है उसका जीवन भी।'

जुगाई के दोनों पाँव थकान के कारण मन-मन भर के हो गए थे। एक पग भी आगे बढ़ना उसे असम्भव मालूम हुआ। वह पेड़ की डाल पर हाथ रखकर खड़ा हो गया। पेड़ की यह सूखी डाल उसे कोमल और सजीव सी जान पड़ी। थोड़ी देर हाथ फेरता खड़ा रहा फिर वहीं धरती पर बैठ गया। पेड़ के डाल से उसने टेक लगा ली और बैठा हुआ ऊपर आकाश के तारों को निहारता रहा। उसकी आँखों के सामने वे उगते और बढ़ते जा रहे थे। प्रकृति के हर एक परिवर्तन को, रात के हर एक अस्तित्व को वह ध्यान से निहार रहा था। कितनी देर उस प्रकार बैठा रहा यह उसे ज्ञात नहीं। मानो यह जाड़े की सनसन करती हवा भी उसे नहीं छू रही थी। दाँत उसके

किटकिटा रहे थे। पर उसे सर्दी नहीं लग रही थी। उसे लगा कि उसका अब यहीं अंत हो जायगा। गाँव अब वह नहीं पहुँच सकेगा—पर उसे कोई चिन्ता नहीं थी। आँखें बन्द हो गईं और फिर बाहर का अंधकार उसकी ज्ञान इन्द्रियों में जग उठा!

जब उसकी नींद खुली तब आकाश का अंधकार धुलने लगा था तारों की सफेदी जैसे पिघल कर नीले आसमान में बिखर उठी थी। धरती ओस से भीगी थी और वह भी ओस से कुछ-कुछ भींग गया था। कपड़े उसके नम हो उठे थे और उसके तन की गर्मी बाहर निकल कर तन पर के कपड़ों को सुखाने का प्रयत्न कर रही थी परन्तु उसका प्रयत्न व्यर्थ जा रहा था। जब बाहर की शीत अधिक हो गई हो तो फिर उसके छोटे से तन की गर्मी कर ही क्या सकती है। उसने उठने का प्रयत्न किया तो उसे लगा मानो उसका शरीर अकड़ गया हो। जैसे अब वह उठ न पा सकेगा। प्रयत्न करके वह खड़ा हो सका। फिर चारो ओर दृष्टि घुमा कर वह गाँव की ओर चल पड़ा। अपने धुन में उसने रास्ते में मिले पेड़ों और खेतो को भी नहीं देखा। वह चलता रहा—चलता ही रहा।

गाँव में जब गुड़ बनने लगता है तो गन्नो के खेती के किनारे चरखी पर बड़ी चहल-पहल रहती है। दिन भर का पेरा गया रस रात में कड़ाहे में खौल कर ठोस होता रहता है। किसानो के लिए वह दिन बड़े परिश्रम के होते हैं। नवनीत की चरखी पर भी बड़ी चहल-पहल थी। रात भर गुड़ बन रहा था। अब यह आखिरी ताव था। जिसे नवनीत के पिता ने उलट कर गुड बनाने के चौकोर गड्ढे में डाल दिया। नवनीत और वह दोनों जल्दी-जल्दी गरम गीले गुड़ की मुट्टियाँ बाँध रहे थे। जब हाथ अधिक जलने लगता तब नवनीत उन्हें पास रक्खे पानी में तनिक डुबो लेता और शीघ्र ही मुट्टियाँ बाँधने लगा। काम समाप्त होने को आ रहा था। इसलिए नवनीत को प्रसन्नता हो रही थी। नींद से उसकी पलकें भारी थीं। उसे लग

"पर क्या ?"

"अरे कोई बात नहीं।"

जुगाई की माँ ने पोटली रख दी तो नवनीत ने पूछा--

"तरकारी ज्यादा है न, मैं बहुत खाता हूं

'तुम दोनों के लिए तो काफी है फिर पेट न भरे तो अपने काका से कहना दो भेली गुड़ दे देंगे।"

नवनीत की माँ देखने लगी। नवनीत भी मुस्करा उठा। खा चुका तो वह हाथ मुंह धोने लगा। जुगाई की माँ खड़ी घर की मालकिन से बातें कर रही थी। नवनीत को जाने के लिए तैयार देख उसने फिर कहा—"देख बेटा नवनीत, उसे अधिक रात तक जगने न देना और हाँ उसे सर्दी भी बहुत जल्दी लग जाती है।"

"निश्चिंत तो रहूँ पर जब तुम लोग रहने दो तब न!"

नवनीत की माँ हँस कर बोली--"अब तो मैंने सोच लिया है कि इस साल इसकी बहू लाकर घर में डाल दूँगी तब इसे जान पड़ेगा।"

"जान क्या पड़ेगा ?" नवनीत ने मुस्करा कर माँ की ओर देखा—"हाँ यह जरूर हो जायगा कि तुम्हारे सिर एक और बला हो जायगी।"

"सुन रही हो न उसकी बातें।" नवनीत की माँ ने जुगाई की माँ की ओर देख कर हँसते हुए कहा।

"हाँ, हाँ, ठीक है। तुम इसकी बहू लाओ और हम जुगाई की। तभी दोनों के दिमाग ठिकाने हों।"

नवनीत तैयार हो गया था। खाने की पोटली उसने उठाई और खेत की ओर चल पड़ा। अंधेरा घना हो रहा था और नवनीत जुगाई की बात सोचता हुआ खेत की ओर बढ़ रहा था। वह सोच रहा था—अब तो गाड़ी आ गई होगी। जुगाई को आने में तब भी कम से कम डेढ़ घंटे अवश्य लगेंगे। दोपहर रात गए वह अवश्य आ जायगा। चलो अच्छा ही है आज खेत में जी न ऊबेगा। पर यह जुगाई भी

अजीब आदमी है। देखो न चिन्ता ही के पीछे पागल हो गया है। गया है बेचारा उसे गाड़ी पर बैठाने और वह भी पाँच मील चल कर। ऐसा भी प्रेम किस काम का? और फिर इसमें कोई होने जाने का भी तो नहीं। दर्शन भी दुर्लभ हो जायंगे। ऐसे तो दुनिया में हजारों स्त्रियाँ हैं। इस तरह प्रेम भी कहीं किया जाता है। प्रेम तो ऐसे से करे जिससे प्रतिदान मिल सके। जो अपने को भी प्रेम करे। और मान लो चिन्ता उसे प्रेम करती भी हो तो क्या दोनो कभी मिल सकेंगे?'

इन्हीं विचारों में उलझा वह जैसे ही चरखी पर पहुँचा वैसे ही गुड़ का ताव उतारा गया था। पिता ने उसे बुला लिया और वह काम में लग गया तब से लेकर अभी तक वह इतना व्यस्त रहा है कि उसे जुगाई का ध्यान ही न आया। अब, जब वह लेटा तो सहसा उसे जुगाई का ध्यान आ गया। अरे! जुगाई अभी तक नहीं आया और यहाँ भोर हो रही थी आखिर रह कहाँ गया। घर तो वह जायगा ही नहीं। तो फिर जाड़े की सारी रात वह कहाँ रह गया। क्या स्टेशन पर ही बैठा रह गया। पर उसके लिए तो कुछ भी असंभव नहीं है। सम्भव है जब गाड़ी चली गई हो तब वह वहां बैठ गया हो और फिर आने की बात ही भूल गया हो। पर सारी रात वहां जाड़े में बैठ कर उसने कैसे काटी होगी? यह तो उसने बहुत बुरा किया या हो सकता है कि वह चला हो और रास्ते में कोई—"

उसका हृदय जोर से धड़कने लगा। और, कहीं जुगाई को कुछ हो न गया हो, नहीं वह आता जरूर। जब पिता घर जाने लगे थे तब तो उसे ध्यान नहीं आया। नहीं वह जुगाई के घर जाता देखता वह घर तो नहीं पहुँच गया है। पर घर वह नहीं पहुँच सकता। इसका उसे पूरा विश्वास है। वह उठ कर बैठ गया। रजाई उसने पैरों पर डाल ली। और तभी उसने सहसा सुना—

"नवनीत?"

आवाज जाड़े के कारण जम गई थी और कांप रही थी परन्तु

नवनीत तुरन्त ही पहचान गया। जुगाई ही आवाज थी। तुरन्त ही वह उछल पड़ा और पुकारा—"कौन जुगाई!"

"हाँ मैं ही हूं। अपनी टटिया तो खोलो।" उत्तर मिला।

अन्धकार में उठ नवनीत ने अपने टटिया का बेड़ा खोल दिया। फिर जुगाई भीतर आ गया। यदि झोपड़ी में प्रकाश होता तो शायद नवनीत उस समय उसका चेहरा देख कर अवश्य ही भयभीत हो जाता। उसने पूछा—"अरे इतनी रात तक कहाँ रहा जुगाई?"

"क्यों कितनी रात गई?"

"सवेरा हो रहा है। अभी अभी मुर्गा बोला है।"

"सवेरा हो रहा है। उसने आश्चर्य के साथ पूछा—"तो क्या तू सच कहता है?"

"सच नहीं फिर क्या? अभी तो बाबा घर गए हैं। पर तू रहा कहाँ।"

जुगाई ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप अंधकार में खड़ा हुआ नवनीत को निहार रहा था पर शायद देख कुछ नहीं पा रहा था। अन्त में जुगाई ने शांति भंग की—"नवनीत मुझे बड़ी सर्दी लग रही है।"

"सर्दी तो लगेगी ही। ठहर मैं आग जलाता हूँ, ताप ले।"

झटपट उठ कर वह बाहर गया। भट्टी में आग बराबर रहती है। नहीं भट्टी सवेरे गरम करने के लिए बहुत अधिक ईंधन लग जाय। उसने एक सूखी डाल उठाई और भट्टी में डाल दी। लकड़ी सुलग गई तो उसने उसे बाहर निकाल लिया। गन्ने के छिलके इकट्ठे करके उसने आग लगा दी। जुगाई ने आग जली देखी तो आकर वह उसके निकट बैठ गया। आँखें उठा कर उसने नवनीत की ओर तो नहीं देखा पर सोचता हुआ आग तापता रहा। आग की लपट से उसका चेहरा लाल हो रहा था। नवनीत जुगाई को ध्यान से देख रहा था। थोड़ी देर बाद जुगाई ने एक निश्वास खींची। आग की

गर्मी से उसके शरीर का जमा हुआ रक्त पिघल गया था। अकड़ा हुआ शरीर फिर अपने पूर्व स्थान पर आ रहा था। उसने सिर उठा कर नवनीत की ओर देखा। नवनीत को लगा कि आज जुगाई के चेहरे में बहुत अन्तर हो गया है। जैसे वह वर्षों बूढ़ा हो गया है। नवनीत को बहुत आश्चर्य हुआ। यह परिवर्तन क्यों? फिर सोचा सम्भव है सर्दी के कारण ऐसा लग रहा हो। वह उसे क्षण भर देखता फिर पूछा—"जुगाई तू कहाँ रहा रात भर?"

"रात भर! मैं कह नहीं सकता नवनीत।"

"क्यों?"

"मैं तो स्टेशन से उसी समय चल पड़ा था।"

"तो रात भर में पांच मील का रास्ता चल पाया तू?"

"जान तो ऐसा ही पड़ता है।" जुगाई ने चिन्तित भाव से उत्तर दिया।

नवनीत को बड़ा आश्चर्य हुआ वह जुगाई की ओर आश्चर्य के साथ देखता रहा फिर शायद उसे विश्वास नहीं हुआ तो उसने पूछा—"सच-सच बता जुगाई तू कहाँ था।"

"बता तो दिया।"

"रात भर सर्दी में जाने तू कैसे चलता रहा जो सवेरा हो गया।"

"यह मैं स्वयम् नहीं समझता कि कैसे यह हुआ। मैं तो बराबर ही चलता रहा।"

"अच्छी बात है, यह बता तुझे भूख तो लगी ही होगी।"

"नहीं, भूख तो हमें नहीं लगी।"

"शाम को भी कुछ नहीं खाया और भूख भी नहीं है? आज तो तू विचित्र प्रतीत हो रहा है।"

"नहीं नवनीत मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।"

"अच्छा तो गुड़ लाऊँ खाकर पानी ही पी ले।"

"नहीं नवनीत अब मेरी सर्दी चली गई है और अब मैं सोऊँगा।"

उठ कर दोनों झोपड़ी के भीतर चले गए और रजाई ओढ़ कर लेट गए। अंधकार में थोड़ी देर तक दोनों चुपचाप रहे। फिर नवनीत ने पूछा।—"स्टेशन पर तुझसे उससे कुछ बात हुई थी?"

"हाँ।" जुगाई संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

"क्या बातें हुईं?"

"नवनीत मैं तो उसके बिना जीवित नहीं रह सकता।"

"अरे तो क्या मरने की तैयारी कर रहा है?" नवनीत हँसा।

"तुझे हँसी आती है नवनीत! पर मैं सच ही कह रहा हूं।"

"अच्छा सच तो कहता है पर बता क्या बातें हुईं।"

"कुछ नहीं उसने कहा कि जब वह लौटेगी तो मुझे खबर देगी।"

नवनीत क्षण भर चुप रहा फिर कहा—"देख जुगाई, मेरा कहना मान। तू इस लड़की के चक्कर में मत पड़। जीवन, नष्ट करने के लिए नहीं है।"

"नवनीत मुझे नींद लगी है।"

नवनीत समझा शायद जुगाई इस सम्बन्ध के बातें नहीं करना चाहता सो वह चुप हो गया। थोड़ी देर बाद उसने फिर कहा—

"जुगाई देख मैं नहीं चाहता कि तेरा जीवन इस प्रकार नष्ट हो और यह तो जानता ही है कि तू चिन्ता को नहीं पा सकता।" तुम्हारे दोनों के परिवार सदा से एक दूसरे के शत्रु रहे हैं। तुम्हारा उसका विवाह तो होगा ही नहीं और अगर न हुआ तो क्या करेगा?"

"करूँगा तो कुछ नहीं। पर वह तो मुझे हताश कभी न करेगी।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"हताश नहीं कर सकती! अरे यार, हताश तो करने को वह विवश है और उसे हताश करना ही पड़ेगा।"

"नहीं नवनीत तुम उसे नहीं जानते। वह ऐसी नहीं है।"

"पर वह कर क्या सकती है?"

"कुछ न करेगी पर हम अपनी जान तो दे ही सकते हैं।"

"इसीलिए तो कहता हूँ कि व्यर्थ जान तुझे न देनी पड़े। अब भी समय है। छोड़ दे उसका चक्कर तो ठीक है।"

"नहीं नवनीत तुम्हारा कहना मानना असम्भव है। अब बड़ी देर हो चुकी है।"

देर तो अवश्य हो चुकी है। गलती भी ऐसी हुई है कि फिर उसका समाधान नहीं हो सकता। वह चुपचाप आखें खोले पड़ा रहा। फिर दोनों की पलकें बंद हो गईं। उसके सांस की आवाज तेज होने लगी और फिर थोड़ी देर बाद बिल्कुल शांति थी। जुगाई सो गया था। आंखों में उसके जो नींद छा गई थी वह उसके शरीर को चाहे विश्राम दे रही हो पर मन उसका शायद अब भी अशान्त ही था। रह-रह कर उसके मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ खिंच रही थीं। पर अंधकार में उन्हें देखने वाला कोई भी नहीं था। समझने वाला भी कोई नहीं था।

उठ कर दोनों झोपड़ी के भीतर चले गए और रजाई ओढ़ कर लेट गए। अंधकार में थोड़ी देर तक दोनों चुपचाप रहे। फिर नवनीत ने पूछा।—"स्टेशन पर तुझसे उससे कुछ बात हुई थी?"

"हाँ।" जुगाई संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

"क्या बातें हुईं?"

"नवनीत मैं तो उसके बिना जीवित नहीं रह सकता।"

"अरे तो क्या मरने की तैयारी कर रहा है?" नवनीत हँसा।

"तुझे हँसी आती है नवनीत! पर मैं सच ही कह रहा हूं।"

"अच्छा सच तो कहता है पर बता क्या बातें हुईं।"

"कुछ नहीं उसने कहा कि जब वह लौटेगी तो मुझे खबर देगी।"

नवनीत क्षण भर चुप रहा फिर कहा—"देख जुगाई, मेरा कहना मान। तू इस लड़की के चक्कर में मत पड़। जीवन, नष्ट करने के लिए नहीं है।"

"नवनीत मुझे नींद लगी है।"

नवनीत समझा शायद जुगाई इस सम्बन्ध के बातें नहीं करना चाहता सो वह चुप हो गया। थोड़ी देर बाद उसने फिर कहा—

"जुगाई देख मैं नहीं चाहता कि तेरा जीवन इस प्रकार नष्ट हो और यह तो जानता ही है कि तू चिन्ता को नहीं पा सकता।" तुम्हारे दोनों के परिवार सदा से एक दूसरे के शत्रु रहे हैं। तुम्हारा उसका विवाह तो होगा ही नहीं और अगर न हुआ तो क्या करेगा!"

"करूँगा तो कुछ नहीं। पर वह तो मुझे हताश कभी न करेगी।" जुगाई ने उत्तर दिया।

"हताश नहीं कर सकती! अरे यार, हताश तो करने को वह विवश है और उसे हताश करना ही पड़ेगा।"

"नहीं नवनीत तुम उसे नहीं जानते। वह ऐसी नहीं है।"

"पर वह कर क्या सकती है?"

"कुछ न करेगी पर हम अपनी जान तो दे ही सकते हैं।"

"इसीलिए तो कहता हूँ कि व्यर्थ जान तुझे न देनी पड़े। अब भी समय है। छोड़ दे उसका चक्कर तो ठीक है।"

"नहीं नवनीत तुम्हारा कहना मानना असम्भव है। अब बड़ी देर हो चुकी है।"

देर तो अवश्य हो चुकी है। गलती भी ऐसी हुई है कि फिर उसका समाधान नहीं हो सकता। वह चुपचाप आखें खोले पड़ा रहा। फिर दोनों की पलकें बंद हो गईं। उसके सांस की आवाज तेज होने लगी और फिर थोड़ी देर बाद बिल्कुल शांति थी। जुगाई सो गया था। आंखों में उसके जो नींद छा गई थी वह उसके शरीर को चाहे विश्राम दे रही हो पर मन उसका शायद अब भी अशान्त ही था। रह-रह कर उसके मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ खिंच रही थीं। पर अंधकार में उन्हें देखने वाला कोई भी नहीं था। समझने वाला भी कोई नहीं था।

तेरह

पंडित काका की तबियत अच्छी हो गई थी पर अभी वे बाहर नहीं निकलते थे। इसलिए नहीं कि वे निकल नहीं सकते थे, बल्कि इसलिए कि इधर एक पखवारे से जो वे सदा घर में बन्द रहे तो बाहर के वातावरण से जैसे उन्हें अरुचि हो गई थी। सो वे घर से बाहर नहीं निकलते थे। कमरे में ही बैठे थे। ओसारे में सूरज की किरणें तो न आई थीं पर उनका कुछ प्रकाश कमरे में आकर बिखर रहा था। पंडित काका के कोई और तो है नहीं, सो घर का सारा काम उन्हें ही करना पड़ता था। जीवन में किसी दूसरे का किया काम उन्हें कभी पसन्द ही नहीं पड़ा। पर जब से वे बीमार हुए घर की ओर से उन्हें एक विमोह सा हो उठा था। कमरे के कोने में उनकी चारपाई थी जिस पर एक दरी पड़ी थी। शायद यह दरी उन्हें किसी जजमान से मिली थी। उसे संजो कर तो उन्हें रखना नहीं है और अगर संजो कर रखें भी तो किसके लिए। जीवन में ही सब कुछ का उपयोग कर डालना ही पंडित काका ने सीखा है। दरी मैली हो गई है। पर उसे धुलाने की आवश्यकता शायद उसके स्वामी ने अनुभव नहीं की। वर्ष में शायद वह एक बार ही धुलती होगी, यह तो उसका रूप ही बता रहा था। सिरहाने एक मोटी सी तकिया है जो काठ सी कठोर है। पंडित काका ने उसमें रुई जरूर भरवाई थी। पर उसके ऐसे

व्यक्ति के साथ रह कर रुई भी अपनी कोमलता को भूल गई। अपनी शान वह भी छोड़ चुकी थी।

हँस कर कभी-कभी पण्डित काका कहते है—'वह मनुष्य क्या है जो पत्थर न हो सका हो।' सभी मनुष्य उनके लिए एक-एक पत्थर हैं। ठीक भी तो है पण्डित काका तो स्वयम् पत्थर की तरह सब कुछ ही सह लेते हैं। उनमें वह हृदय है जिसे धड़कते तो अभी तक किसी ने कभी नहीं पाया। वे कहते हैं—'जीवन में बहुत कुछ सहना है। सो पत्थर होकर ही मनुष्य कुछ सह सकेगा। सो मनुष्य को पत्थर होना चाहिए। पत्थर तो सब कुछ सहता है पर यह कोई कह नहीं सकता। वह होता तो कठोर अवश्य होगा। ऐसा अनुमान किया जाता है। और यदि मनुष्य सब कुछ सह ले तो वह पत्थर हो जाता है। पर मनुष्य भी तो विवश है। सहना उसे सब कुछ पड़ता है चाहे उसके लिए वह उद्यत हो या न हो।' पर संसार में वास्तविक पत्थर—पंडित काका जैसे हैं बहुत कम ही।

पंडित काका ने एक बार सारे कमरे में दृष्टि डाली। उनकी कोठरी के कारण घर कितना गंदा हो उठा है। बिमारी से पहले वे अपने घर को कितना साफ-सुथरा रखते थे। कहा करते थे—"ब्राह्मण का घर यदि गंदा रहा तो वह ब्राह्मण नहीं है।" कई गंदे-गंदे कपड़े उसके कमरे में चारों ओर छितरे पड़े थे। कोने में एक घड़ा रक्खा था जिसमें पखवारों पहले का पानी भरा था और पुराने होने के कारण पानी में कीड़े बुलबुला आए थे। फर्श पर कई परत गर्द जम गई थी। जिन पर स्थान-स्थान पर पैर के निशान बन गए थे जो शायद पण्डित जी के पाँव से ही बने होंगे। प्रतिदिन ही पाँव के निशान बनते थे और बाहर की आती धूल उन्हें कुछ अस्पष्ट कर उन पर चढ़ बैठती थी। यही तो शायद इस संसार का नियम है। मनुष्य के चिह्न मिटाते रहने में ही प्रकृति सदा प्रयत्नशील रहती है। मनुष्य के जीवन में बहुत कुछ ऐसा ही घटता है। पण्डित काका ने प्रकृति के इस काम

को देखा न हो यह बात न थी पर उन्हें इन पर सोचने का शायद कभी समय नहीं मिल सका। एक ओर एक तिपाई रक्खी थी जिस पर पंडित काका का सामान रक्खा हुआ था। उसके आस पास के फर्श पर दरारें बन गई थीं। गोबर से लिपा यह फर्श बहुत समय से उपेक्षित रहने के कारण फट गया था। दरारों से चीटियों की कतारें नए रंगरूटों की कतारों सी बनी निकल रही थीं। यह सब घर और फर्श की दुर्दशा पंडित काका ने एक बार देखा। इस पर उन्हें बड़ी 'बिथा' उपजी।

अपनी रजाई उन्होंने और ऊपर खींचली पर रजाई शायद उनकी शीत को रोक पाने में समर्थ नहीं हो पा रही थी, यह रजाई उन्होंने दस-बारह वर्ष पहले बनवाई थी तब से पण्डित काका के जाड़ा की वही अंकदामिनी हो कर रहती है। पंडित काका को इस रजाई से बड़ा मोह है। सो अभी तक वे उसे गर्मियों में बहुत संजो कर रखते आये हैं। अब तो कई स्थान पर फट कर वह वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई है। पर पंडित काका ने उसमें पुराने फटे कपड़ों का पेबंद लगा कर उसकी लज्जा ढंकने की अब तक कोशिश की है। रुई भी कई-कई स्थानों की खिसक गई है पर उनका विश्वास है कि वह अभी कुछ साल तो कम से कम उनका साथ देगी ही। इस बार जब वे बीमार पड़े तो उन्हें विश्वास हो गया कि शायद वे अब नई रजाई न बनवा सकेंगे नहीं तो सोचा था कि अगले साल नई रजाई बनवा लेंगे।

पंडित काका को अपने घर के इस दशा पर बड़ी वेदना उपजी। तभी वे बड़ी देर तक पड़े-पड़े अपने मन में सोचते रहे। आखिर वे घर को साफ-सुथरा रख कर करें ही क्या? घर मानो रो रहा हो और उसकी बिथा उनसे देखी न जा रही हो। सूरज ऊपर चढ़ रहा था और गर्मी तो कम हो ही गई थी। पण्डित काका ने मन में निश्चय किया कि आज वे अवश्य उठेंगे, घर की सफाई बहुत जरूरी है! लोग कहते हैं कि गन्दगी से बीमारी फैलती है। पण्डित काका को लगा कि

आज वे घर की सफाई अवश्य करें। सफाई करना आवश्यक है, अब उनसे घर की यह दशा देखी न जायगी।

और यह विचार आते ही वे उछल कर उठ खड़े हुए। चारपाई पर खड़े ही खड़े उन्होंने चारों ओर देखा और फिर धीरे से चारपाई से उतरे। मिरजई को उन्होंने एक बार फिर अच्छी तरह पहन लिया। जिससे बाहर की सर्दी न लगे। फिर झाड़ू की खोज में आँगन में चले गए। झाड़ू उन्हें आँगन के कोने में तुलसी थाले के पास खड़ी मिली। उन्होंने उसे उठा लिया और फिर क्या था—दूसरे ही क्षण घर की सफाई प्रारम्भ हो गई।

जुगाई और नवनीत उधर से निकले तो जुगाई ने कहा—"नवनीत चल न पण्डित काका के पास चलें।"

"पण्डित काका अच्छे तो हो गए हैं, कल हमने उन्हें देखा था।"

"बेचारा इस बार बहुत बीमार हुआ।"

"हाँ।"

"पण्डित काका कहते हैं कि मनुष्य अपनी ही गलतियों से बीमार पड़ता है।"

"हो सकता है?"

"पर ऐसा होने पर पण्डित काका ही क्यों बीमार पड़े?"

"बीमार होने की बात भी ऐसी है कि उसका कारण नहीं खोजा जाता। मनुष्य का शरीर ही तो ठहरा। उसका क्या ठीक।"

"पर पण्डित काका के विचार तो उनके ही हैं।"

दोनों पण्डित काका के दरवाजे पर आए। दरवाजा खुला था और पण्डित काका के घर में किसी के भी आने की मनाही नहीं थी। सो दोनों बिना बुलाए-पुकारे भीतर चले गए। देखा तो पण्डित काका कमरा साफ कर चुके थे। अब वे आँगन बुहार रहे थे। उन्हें देख नवनीत को हँसी आ गई। आगे बढ़ कर उसने कहा—"पण्डित काका पालागन?" "आशीर्वाद!" कह कर उन्होंने मुँह फेरा तो नवनीत और

जुगाई को देख मुस्करा कर बोले ।—“अरे जुगाई तू है ।”

जुगाई पण्डित काका की बड़ी श्रद्धा करता है। जब वह छोटा था, पण्डित काका के पास अधिक आता था। पण्डित काका ने ही उसे पहिले वर्णाक्षर सिखाए थे। पर बाद में वह स्कूल जाने लगा। लेकिन अधिक कुछ पढ़ लिख न सका। पण्डित काका बहुत चाहते थे कि जुगाई इतना पढ़ ले कि वे उसे संस्कृत पढ़ावें पर उनकी इच्छा पूरी न हुई। पण्डित काका ने संस्कृत पढ़ी थी पर जब से वे इस गाँव में आए उन्हें अपने अध्ययन की आवश्यकता नहीं पड़ी और धीरे-धीरे वे उस चिर सञ्चित ज्ञान को भूलने लग गए थे। आखिर कोई कब तक याद रखे। गाँव में कोई ऐसा था ही नहीं जिसे वे अपनी विद्या दे सकते। और उनका विश्वास है कि मरने के पहले यदि मनुष्य अपने ज्ञान को किसी को नहीं दे पाता तो उसका समस्त अध्ययन व्यर्थ चला जाता है। और फिर उसका कोई लाभ नहीं होता। दूसरे गाँव से एक ब्राह्मण का लड़का आता था पर वह भी अधिक कुछ न पढ़ सका। उसे गाँव में अपने जजमानों का काम ही तो चलाना था। केवल इसी लिए वह इतनी कठिन परिश्रम करके पढ़े यह बात तो उसे इतनी ठीक नहीं जँची। तो वह पण्डित काका से अधिक न पढ़ सका पर इतना तो हुआ ही कि ब्याह आदि कराने को वह मन्त्र सीख गया।

इसी लिए तो पण्डित काका की यह शिकायत है कि आज कल लोग अध्ययन करना ही व्यर्थ समझते हैं। यह बड़ी मूर्खता है।

जुगाई काका की बड़ी श्रद्धा करता है। बढ़ कर वह उनके आगे झुका। पण्डित काका ने झाड़ू दाहने हाथ से अलग रख दी और जुगाई की पीठ पर हाथ फेरने लगे और आशीर्वाद दिया कि मनोकामनाएँ पूर्ण हों।

“लो, पण्डित काका ने आशीर्वाद दे दिया। अब तो तेरी मनोकामना पूर्ण हो जायगी।” नवनीत ने हँस कर कहा।

“हाँ, हाँ, होगी क्यों नहीं।” पण्डित काका ने नवनीत को

लक्ष करके कहा।—"बड़े लोगों के आशीर्वाद से ही सब कुछ होता है। नहीं तो ऐसी कौन सी शक्ति है जिसके बल पर एक पत्ता भी हिल सके।"

"हाँ, काका यह तो निरा दुष्ट है।" जुगाई ने कहा।

"नहीं नवनीत, दुष्ट नहीं है। जीवन में इसने हँसी को ही प्रमुख स्थान दे रक्खा है।" काका ने मुस्करा कर कहा।

"और फिर क्या करूँ काका। हँसते रहने में कोई बुराई है क्या?" नवनीत ने पूछा।

"नहीं बुराई कौन कहता है?"

"चलो काका आज तुमने भी कह दिया तो अब मैं सदा ही हँसा करूँगा।"

"हाँ, हाँ, सो तो चाहिए ही।" पण्डित काका ने कहा।

"पर काका, क्या तुम जुगाई की मनोकामना भी जानते हो?"

"जान कर करूँगा क्या? जब हमारा आशीर्वाद ही है तो वह चाहे जो भी कामना करे।"

"नहीं काका, आज कल इसकी मनोकामना कुछ ऐसी वैसी नहीं है।" नवनीत ने मुस्करा कर कहा।

जुगाई को नवनीत की यह बात अच्छी न लगी। नवनीत की ओर तीव्र दृष्टि से देख कर उसने कहा—"चुप रह नवनीत, बेकार की बातें बुरी होती हैं।"

"अच्छा, अभी मैंने बेकार की कौन सी बात कही?"

"अच्छा चुप रह।"

"नहीं रहता। काका, आज कल यह विवाह करने को बहुत इच्छुक हो गया है।" नवनीत ने हँस कर कह दिया तो जुगाई ने क्रोध से उसका हाथ पकड़ कर दबा दिया।

पण्डित काका के अधरों पर मुस्कान खेल गई। उन्होंने कहा—"तो इसमें बुरा क्या है ब्याह तो उसका एक दिन होगा ही। जरा मुझे ठीक

हो जाने दो फिर देखना कितनी जल्दी सब ठीक करता हूँ।"

"अरे काका तुम भी इसकी बातों में आगए।" जुगाई ने कहा।

"नहीं बेटा जुगाई इसमें कोई बुरी बात नहीं है! जब मैं बीमार नहीं पड़ा था तभी एक दिन तेरी माँ ने मुझसे कहा था कि तेरे ब्याह की बात कहीं चला रही है।"

"सच काका, सच!" नवनीत ने पूछा।

"हाँ।" काका गम्भीर थे।

"पर कहाँ काका?"

"अभी तो बात ही शुरू हुई है। सब जान कर तुम क्या करोगे?"

पण्डित काका के उत्तर से नवनीत का उत्साह ठंडा पड़ गया। वह आगे कुछ न पूछ सका।

जुगाई ने पूछा—"काका अब तुम्हारी तबियत कैसी है?"

" अब तो अच्छी है बेटा।"

"बुखार तो अब नहीं रहता?"

"नहीं बुखार तो अब नहीं रहता पर दुर्बलता बहुत है।"

"सो तो रहेगी ही काका। बुढ़ाई की अवस्था जो ठहरी।" जुगाई ने गम्भीरता पूर्वक कहा।

"पर अब ठीक हो गया हूँ। चार दिन जहाँ बाहर निकला सब ठीक हो जायगा।"

"नहीं काका बाहर अभी तुम मत निकलना।"

काका हँस दिए। बोले—"बाहर निकलने से कोई बीमार नहीं होता बेटा। यह तो भोगनान है जो हमें भोगना पड़ता है।"

"पर काका अभी तुम्हें सर्दी अधिक बचाना चाहिए।"

"मनुष्य यदि सबसे सदा बचता ही रहे तो ठीक नहीं। जीवन में तो बचना नहीं सामना करना चाहिए।" काका ने उत्तर दिया।

उनकी बात निराली होती है, हर एक बातों में उनका अपना ही दृष्टिकोण है। एक बार पण्डित काका और एक साधु महात्मा में

विवाद हो गया था। काका की ऐसी बातें सुन कर बेचारे साधू भी उनका मुँह ताकने लग गए थे चारों धाम की यात्रा करके वे लौटे थे। विचरते हुए जब गाँव में आगए तो पण्डित काका के दरवाजे पर आकर डेरा डाल दिया। भोजन आदि के बाद जब लोग बैठे तो महात्मा जी का उपदेश होने लगा। गाँव भर की भीड़ थी। महात्मा जी कह रहे थे कि संसार की माया से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। अपनी इच्छाओं का दमन करके मन को परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। सच्चा योगी वही है जो संसार के प्रलोभनों से दूर रहे।

पण्डित काका तम्बाकू मल रहे थे! महात्मा जी का अन्तिम वाक्य जो उनके कान में गया तो तम्बाकू पीटने के लिए उनका उठा हाथ उठा का उठा ही रह गया और उन्होंने महात्मा जी से पूछा—"तो महाराज जो संसारिक सुखों में लिप्त हैं क्या उसको मुक्ति नहीं हो सकती।"

"कैसे हो सकती है! सांसारिक सुखों से जो दूर है वही मुक्ति प्राप्त कर पाता है।" महात्मा जी ने जिज्ञासु को उत्तर दिया।

पण्डित काका मुस्कराये, बोले।—"महाराज मैं तो समझता हूँ कि सच्चा योगी वही है जो सब सुखों का भोग कर चुका हो।"

महात्मा जी उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगे। पण्डित काका ने अपनी बात समझाई—"देखिये मेरे समझ से तो जिसने ऐश्वर्य का भोग नहीं किया है और ऐश्वर्य को बुरा मान कर इससे दूर रहे तो यह कोई विशेष बात नहीं है। दूसरे ऐसा व्यक्ति प्रलोभनों में भी जल्दी आ सकता है। पर सच्चा साधु और त्यागी तो वही है जो सुखों को भोग करके उन्हें त्याग दे।"

पण्डित काका और महात्मा जी में बड़ी देर तक विवाद हुआ। अन्त में निश्चय क्या हुआ यह तो जगाई समझ न सका पर पण्डित काका की यह बात उसके मस्तिष्क में घर कर गई कि जो मनुष्य एक बार संसार के प्रलोभनों में फंस चुका हो उसका उन्हें त्यागना अधिक

हो जाने दो फिर देखना कितनी जल्दी सब ठीक करता हूँ।"

"अरे काका तुम भी इसकी बातों में आगए।" जुगाई ने कहा।

"नहीं बेटा जुगाई इसमें कोई बुरी बात नहीं है! जब मैं बीमार नहीं पड़ा था तभी एक दिन तेरी माँ ने मुझसे कहा था कि तेरे ब्याह की बात कहीं चला रही है।"

"सच काका, सच!" नवनीत ने पूछा।

"हाँ।" काका गम्भीर थे।

"पर कहाँ काका?"

"अभी तो बात ही शुरू हुई है। सब जान कर तुम क्या करोगे?"

पण्डित काका के उत्तर से नवनीत का उत्साह ठंडा पड़ गया। वह आगे कुछ न पूछ सका।

जुगाई ने पूछा—"काका अब तुम्हारी तबियत कैसी है?"

"अब तो अच्छी है बेटा।"

"बुखार तो अब नहीं रहता?"

"नहीं बुखार तो अब नहीं रहता पर दुर्बलता बहुत है।"

"सो तो रहेगी ही काका। बुढ़ाई की अवस्था जो ठहरी।" जुगाई ने गम्भीरता पूर्वक कहा।

"पर अब ठीक हो गया हूँ। चार दिन जहाँ बाहर निकला सब ठीक हो जायगा।"

"नहीं काका बाहर अभी तुम मत निकलना।"

काका हँस दिए। बोले—"बाहर निकलने से कोई बीमार नहीं होता बेटा। यह तो भोगमान है जो हमें भोगना पड़ता है।"

"पर काका अभी तुम्हें सर्दी अधिक बचाना चाहिए।"

"मनुष्य यदि सबसे सदा बचता ही रहे तो ठीक नहीं। जीवन में तो बचना नहीं सामना करना चाहिए।" काका ने उत्तर दिया।

उनकी बात निराली होती है, हर एक बात में उनका अपना ही दृष्टिकोण है। एक बार पण्डित काका और एक साधु महात्मा में

विवाद हो गया था। काका की ऐसी बातें सुन कर बेचारे साधू भी उनका मुँह ताकने लग गए थे चारों धाम की यात्रा करके वे लौटे थे। विचरते हुए जब गाँव में आगए तो पण्डित काका के दरवाजे पर आकर डेरा डाल दिया। भोजन आदि के बाद जब लोग बैठे तो महात्मा जी का उपदेश होने लगा। गाँव भर की भीड़ थी। महात्मा जी कह रहे थे कि संसार की माया से मनुष्य को दूर रहना चाहिए। अपनी इच्छाओं का दमन करके मन को परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। सच्चा योगी वही है जो संसार के प्रलोभनों से दूर रहे।

पण्डित काका तम्बाकू मल रहे थे! महात्मा जी का अन्तिम वाक्य जो उनके कान में गया तो तम्बाकू पीटने के लिए उनका उठा हाथ उठा का उठा ही रह गया और उन्होंने महात्मा जी से पूछा—"तो महाराज जो संसारिक सुखों में लिप्त हैं क्या उसको मुक्ति नहीं हो सकती।"

"कैसे हो सकती है! सांसारिक सुखों से जो दूर है वही मुक्ति प्राप्त कर पाता है।" महात्मा जी ने जिज्ञासु को उत्तर दिया।

पण्डित काका मुस्कराये, बोले।—"महाराज मैं तो समझता हूँ कि सच्चा योगी वही है जो सब सुखों का भोग कर चुका हो।"

महात्मा जी उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगे। पण्डित काका ने अपनी बात समझाई—"देखिये मेरे समझ से तो जिसने ऐश्वर्य का भोग नहीं किया है और ऐश्वर्य को बुरा मान कर इससे दूर रहे तो यह कोई विशेष बात नहीं है। दूसरे ऐसा व्यक्ति प्रलोभनों में भी जल्दी आ सकता है। पर सच्चा साधु और त्यागी तो वही है जो सुखों को भोग करके उन्हें त्याग दे।"

पण्डित काका और महात्मा जी में बड़ी देर तक विवाद हुआ। अन्त में निश्चय क्या हुआ यह तो जगाई समझ न सका पर पण्डित काका की यह बात उसके मस्तिष्क में घर कर गई कि जो मनुष्य एक बार संसार के प्रलोभनों में फंस चुका हो उसका उन्हें त्यागना अधिक

"अब तो मैं ठीक ही हूँ और फिर घर की सफाई भी तो आवश्यक ही है।" काका ने उत्तर दिया।

नवनीत गोबर लेने चला गया तो जुगाई चुपचाप आँगन में पड़े लकड़ी के एक तख्ते पर बैठा रहा। नवनीत के जाने के बाद जुगाई की ओर देखने का पण्डित काका को शायद अधिक अवसर मिला। उन्होंने उसकी ओर निहार कर पूछा--"जुगाई आज तेरा मुँह इतना उतरा क्यों है?"

"कोई बात नहीं काका। रात भर सोने को नहीं मिला इसी से ऐसा है।" जुगाई ने उत्तर दिया।

काका ध्यान से जुगाई की ओर देखते रहे। शायद वे उसके चेहरे, को देख कर उसके मन की बात पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे। और पढ़ तो उन्होने शायद लिया पर कुछ कह न सके। फिर बोले— "जुगाई तेरे मन में कोई व्यथा है तू चाहे स्वीकार न करे पर इसका मुझे विश्वास है। मन की व्यथा छिपाये रखने से नहीं छिपती रे पगले! पर मैं तुझसे कुछ पूछता नहीं। हाँ यदि कभी तुझे अपने काका की सहायता की आवश्यकता पड़े तो अवश्य बताना।"

जुगाई के मन की व्यथा मुँह पर आ गई थी। जी में तो हुआ कि वह सारी की सारी बातें काका से कह दे। पर वह असमर्थ रहा। बातें कण्ठ तक आकर रुक गईं। गला उसका भर सा आया फिर भी उसने कुछ कहा नहीं।

नवनीत गोबर लेकर आ गया तो जुगाई को जैसे मुक्ति मिल गई। नवनीत ने गोबर आँगन में धर दिया फिर पूछा—"काका पानी भी तो न होगा न। भर लाऊँ क्या?"

"हाँ बेटा, ला दो तो अच्छा ही करो।" काका ने कहा।

इस बार पण्डित काका के पास अकेले में रहने का जुगाई साहस नहीं कर सका। उसे लगा कि पण्डित काका की दृष्टि बड़ी तीव्र है और उससे बचकर वह नहीं रह सकता सो उसने कहा--"चल नवनीत

महत्वपूर्ण है। जिसने संसारिक सुख देखे ही नहीं उसका क्या ! सच्चा महात्मा तो वही है जो संसारिक सुखों के बीच रह कर भी निर्लिप्त बना रहे। ऐसे हैं ये पण्डित काका।

सो पण्डित काका की बातों पर विचार करता रहा। जीवन में बचना नहीं सामना करना चाहिए। सच ही तो पण्डित काका कह रहे हैं। यदि मनुष्य सदा बचने का ही प्रयत्न करता रहा तो वह कभी कुछ न कर सकेगा। उसे तो प्रत्येक क्षण सामना करने को तैयार रहना चाहिए। नवनीत कहता है चिन्ता से मेरा मेल नहीं हो सकता। यह पहले से ही मान कर मैं क्यों निराश होकर बैठा रहूँ। मुझे सामना करना है यदि चिन्ता को मैं अपना न सका तो ! एक बार वह सिहर उठा।

थोड़ी देर शान्ति रही पर यह चुप्पी शायद पण्डित काका को अखर सी लगी सो पूछा—"और तुम लोग आ कहां से रहे हो ?"

"कचहरी पर से हम लोग।" नवनीत ने उत्तर दिया।

"तुम्हारे यहां पेशी शुरू हो गई क्या ?" काका ने पूछा।

"हाँ काका आज छठा दिन है।"

"अच्छा, बाहर निकले बिना गांव की कुछ खबर ही नहीं मिल पाती।"

"हाँ सो तो है ही।"

काका क्षण भर चुप रहे फिर बोले—"नवनीत, मेरा एक काम कर दो।"

"क्या काका।"

"थोड़ा सा कीचड़ तो ला दो।"

"क्या लीपने के लिए ?" नवनीत ने पूछा।

"हाँ। [illegible]।"

"पर काका [illegible]

[illegible]

"अब तो मैं ठीक ही हूँ और फिर घर की सफाई भी तो आवश्यक ही है।" काका ने उत्तर दिया।

नवनीत गोबर लेने चला गया तो जुगाई चुपचाप आँगन में पड़े लकड़ी के एक तख्ते पर बैठा रहा। नवनीत के जाने के बाद जुगाई की ओर देखने का पण्डित काका को शायद अधिक अवसर मिला। उन्होंने उसकी ओर निहार कर पूछा--"जुगाई आज तेरा मुँह इतना उतरा क्यों है?"

"कोई बात नहीं काका। रात भर सोने को नहीं मिला इसी से ऐसा है।" जुगाई ने उत्तर दिया।

काका ध्यान से जुगाई की ओर देखते रहे। शायद वे उसके चेहरे, को देख कर उसके मन की बात पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे। और पढ़ तो उन्होंने शायद लिया पर कुछ कह न सके। फिर बोले—"जुगाई तेरे मन में कोई व्यथा है तू चाहे स्वीकार न करे पर इसका मुझे विश्वास है। मन की व्यथा छिपाये रखने से नहीं छिपती रे पगले! पर मैं तुझसे कुछ पूछता नहीं। हाँ यदि कभी तुझे अपने काका की सहायता की आवश्यकता पड़े तो अवश्य बताना।"

जुगाई के मन की व्यथा मुँह पर आ गई थी। जी में तो हुआ कि वह सारी की सारी बातें काका से कह दे। पर वह असमर्थ रहा। बातें कण्ठ तक आकर रुक गईं। गला उसका भर सा आया फिर भी उसने कुछ कहा नहीं।

नवनीत गोबर लेकर आ गया तो जुगाई को जैसे मुक्ति मिल गई। नवनीत ने गोबर आँगन में धर दिया फिर पूछा—"काका पानी भी तो न होगा न। भर लाऊँ क्या?"

"हाँ बेटा, ला दो तो अच्छा ही करो।" काका ने कहा।

इस बार पण्डित काका के पास अकेले में रहने का जुगाई साहस नहीं कर सका। उसे लगा कि पण्डित काका की दृष्टि बड़ी तीव्र है और उससे बचकर वह नहीं रह सकता सो उसने कहा--"चल नवनीत

में भी पानी भरा दूँ।"

नवनीत ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने दोनों कलशे जो एक चबूतरे पर रखे थे उठा लिया। जुगाई पीछे पीछे चला। दरवाजे के पास बरामदे में रस्सी रखी हुई थी। जुगाई ने रस्सी उठा ली और नवनीत के साथ कुएँ पर चला गया।

पानी लाकर दोनों ने पण्डित काका के आंगन में रख दिया। काका ने कहा—"तुम लोगों ने बहुत सहायता की, नहीं मुझे बहुत कष्ट होता अब आज दिन भर मैं यही करूँगा।"

नवनीत को बड़ी करुणा उपजी, बोला—"काका तुम काहे को कष्ट करोगे मैं मुन्देइया को भेजे देता हूं, वह सब कर देगी।"

मुन्देइया बुढ़िया है। घर में उसके कोई नहीं है। वह गांव के चार घरों की सेवा टहल करके गुजर करती है।

काका ने कहा—"नहीं जी मैं सब कर लूँगा।"

जुगाई ने नवनीत की ओर देख कर चलने का इशारा किया तो नवनीत ने कहा—"अच्छा अब हम लोग चलते हैं, अभी फिर खेत जाना है।"

"अच्छा, अच्छा।" कह कर काका ने झाड़ू पुनः उठा ली।

जुगाई और नवनीत बाहर निकले।

चौदह

माघ की अमावश्या हो गई थी। ब्याह की लगन इस वर्ष माघ में कई थीं और फिर फाल्गुन, चैत, वैसाख तक कोई लगन न थी सो ब्याह का जैसे उल्कापात हो रहा था। जुगाई को यह उल्कापात सा ही लगा। जब उल्कापात होने लगता है तब एक के बाद एक इतने तारे टूट जाते हैं कि देखनेवाले को भी आश्चर्य हो उठता है। ऐसा ही तो इस समय हो रहा था। जहाँ जुगाई को साल में एक भी विवाह, बरात में जाने का अवसर न मिलता था वहाँ एक साथ तीन तीन विवाहों के निमंत्रण आए हुए थे। उनमें सब से प्रमुख तो नारयनी के लाला साहब का था। लाला साहब जुगाई के पिता के बड़े मित्र थे। कहते हैं जुगाई के पिता ने एक बार उनकी प्राण रक्षा भी की थी तभी से वे उन्हें भाई की तरह मानते थे। जिस समय उनकी मृत्यु का समाचार उन्हें मिला, कहते हैं उनकी आखों से आंसू बहने लगे थे और उसी दिन जुगाई की माँ और जुगाई को सान्त्वना देने आए थे। तब से वे जुगाई की माँ और जुगाई दोनों का बड़ा ध्यान रखते हैं। महीने में एक बार उनका जिलेदार आकर जुगाई की माँ से पूछा जाता है कि कोई आवश्यकता तो नहीं है। जुगाई की माँ पर उसके बड़े उपकार थे। उनके लड़के का ही विवाह था सो जुगाई को जाना पड़ेगा। पर लाला साहब खूब धनी हैं, जमींदार हैं। उनके यहाँ सभी बड़े बड़े लोग तो

आवेंगे। उनके बीच भला वह कैसे जायगा। यह बात उसकी समझ में न आ रही थी। पर जाना तो उसे होगा ही, सोच कर मां को बड़ी चिन्ता हुई। उसी दिन लाला साहब का जिलेदार आया और कहा—"लाला साहब ने जुगाई को बुलाया है और कहा है किसी प्रकार की चिन्ता न करे, कपड़ों इत्यादि की भी नहीं। उसका यह घर ही है बारात के लिए तो सब लड़कों के कपड़े बनेंगे ही। जुगाई भी आखिर और फिर लड़का ही है।"

जुगाई की माँ व्याकुल हो उठी। इतना तो कोई अपना सगा-सहोदर भी न मानेगा।

सो जुगाई से उसने जाने को कहा। जुगाई की इच्छा जाने की नहीं थी। वह सोचता था—चिन्ता अब आने ही वाली होगी। जाने कब उसकी चिट्ठी आए और इसी बीच में वह एक हफ़्ते भर को लाला साहब के यहाँ चला जाय सो उसे कैसे बात पसन्द आती। पर जाना तो पड़ेगा ही। यही सोच उसने माँ से कुछ कहा नहीं और जाने की तैयारी करने लगा।

जिस दिन वह लाला साहब के यहाँ पहुँचा, विवाह के चार दिन बाकी थे। उसके लिए लाला साहब ने सारे कपड़े बनवा रखे थे। घर में रिश्तेदारों का आना शुरू हो गया था। बरात की तैयारियाँ बड़े धूम-धाम से हो रही थीं। लाला साहब ने जुगाई का बड़ा स्वागत किया जैसे वह भी उनके परिवार का ही एक प्राणी हो। बड़े स्नेह से वे उसे भीतर ले गए। अपनी पत्नी से उसका परिचय कराया। एक ही दिन में जुगाई का सारा संकोच जाता रहा। उसे ऐसा लगने लगा मानों वह सदा से ही इसी घर में रहता आया है।

जिस दिन बरात जाने को थी लाला साहब का घर अतिथियों और सम्बंधियों से भर गया। जुगाई के ऊपर सभी आगन्तुकों के स्वागत-सत्कार का भार था। जुगाई के सरल स्वभाव के कारण सभी मेहमानों को जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो उसी को खोजते। लाला

साहब जुगाई का यह परिश्रम और लगन देख कर प्रसन्न थे। जब कभी वे जुगाई को बुलाते उनके स्वर में अगाध स्नेह की लहरें उछलती सी प्रतीत होतीं।

लाला साहब के यहाँ एक दूर के सम्बन्धी आए थे। वे एक अच्छे जमींदार थे। अवस्था कोई पचास की होगी। पर देखने में हृष्ट-पुष्ट अधिक नहीं थे। उनके साथ उनके दो नौकर भी थे। जिस दिन बरात लौट कर आई, उन्होंने लाला साहब को अपने बुला कर शान्ति से पूछा—"लाला, यह लड़का कौन है?"

लाला साहब ने घूम कर देखा—जुगाई खड़ा था। मुस्करा कर लाला साहब ने उत्तर दिया—"यह है जुगाई—जगराम। यह मेरे एक अत्यन्त घनिष्ट मित्र का लड़का है। उनका तो स्वर्गवास हो गया है। अब केवल माँ बेटे हैं।"

"हुं।" अतिथि ने कहा। स्पष्ट था कि वह कुछ सोच रहे थे।

क्षणभर शान्ति रही। "यह तो सजातीय ही है?" अतिथि ने पूछा।

"जी हाँ, अपना ही है। इसके पिता हमारे बचपन में साथी थे। हम दोनों एक दूसरे के सगे मित्र थे।" लाला साहब ने कहा। शायद वे जुगाई के पिता के बारे में बातें करने को बड़े उत्सुक थे। पर अतिथि ने उनकी इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया और अपनी ही सोचता रहा।

थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"यह लड़का मैं चाहता हूं।"

लड़का चाहते हैं! लाला साहब के समझ में जरा कम ही आया। उन्होंने पूछा—"चाहते हैं! क्या मतलब।"

"बात यह है, लाला, कि मेरी एक बहन है, विधवा। उसके लड़की है। उसी के लिए। जायदाद काफी बड़ी है। लगभग दस हजार की वसूल तहसील होगी। उसी के खोज में मैं भी हूं।"

लाला साहब गम्भीर हो गए। उन्हें यह अनुमान नहीं था और वे यह भी नहीं चाहते थे कि जुगाई की वास्तविक परिस्थिति उनके सम्मुख

प्रकट हो। तब फिर वह क्या उत्तर दें! लाला साहब उलझन में पड़े कुछ सोचते रहे।

"आप चुप क्यों हो गए?" अतिथि ने पूछा।

"आप ने लड़का तो देख ही लिया। पसन्द है न!" लाला साहब ने पूछा।

"जी हाँ लड़का तो हमें पसन्द है और बहुत।"

लाला साहब ने अब तक निश्चय कर लिया था। उन्हों ने कहा-—"यदि आप लड़के की खोज में हों तो मैं कहूंगा कि इससे अच्छा आप को न मिलेगा पर यदि आप धनी की खोज में हों तो कृपया इस लड़के के सम्बन्ध में बातें ही न करें।"

"मुझे तो लड़का ही चाहिए लाला साहब! मेरी बहिन को तो स्वयम् ही कोई कमी नहीं है। और जो है भी सो तो लड़की को ही मिलेगा।"

"हाँ तब तो ठीक हो सकता है।"

"यही नहीं लाला साहब, हम तो किसी अत्यन्त गरीब का लड़का ही चाहते हैं जिसे मेरी बहिन अपने साथ ही रख सके।" अतिथि ने कहा।

"तब तो मैं कहूँगा कि आप को इससे अच्छा लड़का और नहीं मिलेगा। यदि आप चाहें तो मैं ही बात चीत करूं।"

"कीजिए।" अतिथि ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक उत्तर दिया।

और फिर चौथे ही दिन जुगाई के साथ साथ लाला साहब भी उसके घर आए। गाँव वालों ने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा। सभी को आश्चर्य हुआ। लाला साहब का जुगाई के यहाँ आना असाधारण बात थी। सभी में काना फूसी होने लगी।

जुगाई की माँ से जब लाला साहब ने सारी बातें कहीं तो उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उसने कहा—"लाला साहब! जुगाई के बाप के मरने के बाद तो आप ही उसके ऊपर हैं। जो भी उचित

समझें करें। पर एक विनय मेरी है कि जुगाई को किसी और को सौंप दूँ, यह मुझे पसन्द नहीं।"

"नहीं-नहीं ऐसा न होगा।" लाला साहब ने जुगाई की माँ की बात का आशय समझ लिया।

ब्याह पक्का हो गया। पर जुगाई को इस सम्बन्ध में कोई ज्ञान न था। लाला साहब उस दिन चले गए और जुगाई चिन्ता के पत्र की प्रतीक्षा में युग बिताने लगा।

और उसी के दूसरे दिन जब जुगाई बाहर कहीं गया था तो माँ ने पण्डित काका को बुलाया और कहा—"देखो पण्डित जी, चिट्ठी का हाल उससे न कहना।"

"नहीं बहू मैं क्या कोई पगला हूं!"

"ब्याह उसका मैंने तय कर लिया है। यही अगली लगन में ही शायद हो भी जाय।"

"अच्छा, यह बड़े खुशी की बात है।"

एक सीधा पाकर पण्डित जी विदा हुए।

बात यह हुई कि जुगाई के जाने पर चिन्ता का पत्र आया था। पण्डित काका उस दिन बाजार गए थे। डाकखाना उसी गाँव में था। पण्डित जी को देखते चिट्ठी पकड़ा दी। जब कभी पण्डित काका उसे मिल जाते हैं तो यदि गाँव की कोई चिट्ठी हुई तो वह उन्हीं को दे देता है। चिट्ठी लेकर वह जुगाई के घर आए और पुकारा।

"जुगाई!"

"जुगाई! ले चिट्ठी आई है तेरी।"

माँ ने सुना तो आकर बोली—"पन्डित जी वह तो बरात गया है। कैसी और किसकी चिट्ठी है?"

चिट्ठी पण्डित जी ने उसके हाथ में पकड़ा दी। एक बार चिट्ठी को उलट-पुलट कर चारों किनारों से दुरुस्त पाकर माँ ने चिठी पण्डित जी को लौटाते हुए कहा—"पढ़ दो न पण्डित जी।"

पंडित जी ने चिट्ठी खोली। दृष्टि पड़ते ही उनकी आकृति विचित्र सी बन गई। एक सरसरी दृष्टि से वे सारा पत्र पढ़ गए। पर माँ से क्या कहें! चुप रहे तो जुगाई की माँ ने किसी आशंका से भयभीत होकर पूछा—"क्या लिखा है पण्डित जी।"

और अन्त में पण्डित जी को सब बताना ही पड़ा। उस दिन माँ के मन में बड़ी व्यथा रही। जुगाई के इस अपराध के कारण या किसी भावी आशंका से, यह नहीं कहा जा सकता।

पन्द्रह

जुगाई की माँ से बातें करके पण्डित काका अपने घर लौटे। जुगाई की माँ ने उन्हें इस समय शादी के लिए कोई शुभ मूहूर्त खोजने के लिए कहने को बुलाया था। पण्डित काका को जुगाई की माँ बहुत मानती हैं। यों तो गाँव भर ही उन्हें मानता है। वे गाँव भर के काका हैं ही। पर जुगाई की माँ को इन पर खास श्रद्धा है। जुगाई के बाप तो है नहीं और माँ ही को सारा काम काज देखना पड़ता है। घर का भी और खेतीबारी का भी। यों तो जुगाई है और काफी बड़ा भी, पर घर गृहस्थी के कामों में उसका उतना मन नहीं लगता पर माँ जब जो कह देती है उसे वह कभी टालता भी नहीं, माँ उसे बहुत प्यार करती हैं। और वह माँ को अपने से अधिक ही चाहता है। सो माँ को पण्डित काका से समय असमय में बड़ी सहायता मिला करती है।

लाल साहब जुगाई की शादी की बात तय करके परसों ही जा चुके हैं। तब से जुगाई की माँ के हृदय में बड़ी खुशी है। जिस दिन चिन्ता की चिट्ठी पढ़ कर पण्डित जी ने उसे सुनाई थी, जो जुगाई के नाम आई थी, तब से उसे बड़ी व्यथा हो रही थी। वह सोंच रही थी कि जगाई ने कितना बुरा काम यह किया है। उसे यह सोच कर तो और भी अधिक दुःख हो रहा था कि जब भी कभी बात होती थी तब माँ

अभिमान से सिर ऊँचा करके कहती कि मेरे बेटे में कोई बुरी लत नहीं है। वह लड़का हजार में एक है। क्या हुआ जो आज दुनिया में उसके पीछे कोई नहीं है। ऐसे लड़कों को किसी के सहायता की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे लड़के अपने साथ अपना अच्छा भाग्य लेकर पैदा होते हैं। सहारा तो वे ही चाहते हैं जिनमें कुछ करने की शक्ति नहीं रहती। जुगाई सुशील है, सरल है, बुद्धिमान है और मिनहती है। अगर कुछ भी न होगा तो भी कम से कम बाप इतनी जगह-जमीन अवश्य छोड़ कर मरा है कि अगर जुगाई ठीक रास्ते पर रहा और मिहनत करके उसमें लगा रहा तो अपने की तो बात अलग रही वह दो-चार औरों को भी बैठ कर खिला सकता है। गाँव भर की बड़ी-बूढ़ी औरतें जुगाई को सदा प्यार की ही दृष्टि से देखती हैं। अपने बेटे सा ही मानती हैं। पर जब उन्हें जुगाई की यह करतूत मालूम हो जायगी तो वे भला क्या सोचेंगी! यही सोच सोच कर जुगाई की माँ और भी व्याकुल रहा करती थी। क्या वह कहीं शान से फिर ऐसी ही बातें कह सकेगी?

इसलिए तो लाला साहब के पैगाम को उसने झट-झट मान लिया। अच्छा ही तो है, लड़की भी भले घर की है, खानदान अच्छा है, धनी मानी हैं, बड़ा भाग है। घर भी लड़की सम्हाल लेगी और जुगाई भी सम्हल जायगा।

लाला साहब जब चलने लगे थे तब इसीलिए तो उसने सुना दिया था कि सगाई के बाद उसे यह पसन्द नहीं कि लड़का अधिक दिन तक कुँवारा रहे। शादी वह इसी साल कर देना चाहेगी। और इस पर लाला साहब ने भी जो उत्तर दिया उससे तो यह स्पष्ट ही था कि लड़की वालों को इसमें कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती। तो माँ ने लाला साहब से यह भी कह दिया था कि वे अपने यहाँ जा किसी अच्छे पण्डित को दिखा कर लिखें कि ब्याह की कौन सी तिथि निकट पड़ेगी।

अपने गाँव में पण्डित काका से बढ़ कर तो कोई ज्ञानी ब्राह्मण है नहीं, सो माँ ने उन्हें ही बुलाकर सब सहेज दिया कि वे एक अच्छी सी लगन देख कर बतावें कि विवाह या लगन या तिलक आदि के लिए कौन सी तिथियाँ बनती हैं।

पण्डित जी लौट कर घर आए। वे रह रह कर सोच रहे थे कि जुगाई के भविष्य में क्या है। उन्हें तो ऐसा हो रहा था कि जुगाई का भविष्य उस सन्ध्या के भी धुंधलके से अधिक धुंधला है जिसमें बदली छाई हो और घर का बिछुड़ा राही उसी अंधेरे में टेढ़ी पगडण्डी पर लाठी खटखटाता, दिन के अन्तिम वेला में धैर्य खो कर भी आगे बढ़ रहा हो। घर तो उसे मालूम है पर राह वह भूल चुका है, प्रकाश उससे रूठ चुका है।

उन्होंने सोचा एक बार जुगाई को बुला कर वे समझावें। उसे बुला कर स्पष्ट रूप में उन्हें कह देना चाहिए कि चिन्ता के फेर में पड़ कर उसने बुरा किया है। अब तो भला इसी में है कि वह अपनी शादी करले और चिन्ता का ध्यान मन से निकाल दे। सच तो यह अगर कहीं जमींदार साहब को यह पता लग गया तो दोनों में से किसी को जिन्दा न छोड़ेंगे। इस प्रकार की बातों से उन्हें बड़ी घृणा है।

यही सब सोच विचार करके पण्डित काका ने यह निश्चय किया कि जुगाई को बुलवावें। सो इसी इरादे से वे बाहर निकले और गांव की ओर चल पड़े। पर रास्ते में ही मँगरा मिल गया। पण्डित जी ने सिर हिलाकर और हाथ उठा कर आशीर्वाद दिया। फिर कहा—"मँगरा किधर चला रे ?"

"जरा गाँव तक ही जा रहा हूँ महाराज।"

"अच्छा तो एक काम ही कर देना।"

"जरा पुरानी बारी की ओर चले जाना। जुगाई के यहाँ पुकार कर उससे कह देना कि आज एक खास काम है सो अवश्य हमसे

मिल ले।"

"अच्छा महाराज, और कुछ ?"

"नहीं, बस इतना ही कह देना।"

मँगरा चला गया और पण्डित काका भी घर लौट आए।

लगभग चार बजे थे। पण्डित काका सोकर उठे थे। बीमारी में मनुष्य अधिक आलसी हो जाता है नहीं तो जाड़े में भी भला कोई दोपहर को सोता है। कान पर जनेऊ चढ़ाए आंख मींचते हुए वे दरवाज़ा खोलकर बाहर चले आए। बाहर आकार वे खड़े होकर सोचने लगे—जाड़े के ये दिन भी कितने नन्हे से होते हैं। पल मारते दोपहर होती है और अगर थोड़ी सी आँख भी झपक गई तो शाम हो जाती है। इनका अस्तित्व भी कितना अस्थिर है। मानव के ही जीवन की तरह तो इनका भी जीवन बिल्कुल अनिश्चित सा है। सुबह होती है तो मालूम होता है कि हँसता हुआ शिशु खेल रहा है। कितना सुहावना मालूम होता है जब दिन जवानी पर रहता है पर दिन की जवानी भी किसी मानव के यौवन सी ही तो है। अगर बदली के केवल एक ही छोटे से टुकड़े ने सूरज को ढंक लिया तो दिन का यौवन अंधकार पूर्ण दिखाई पड़ने लगता है मानो किसी मानव का यौवन प्रेम में असफल होने लगता है। और जब दिन का बुढ़ापा आता है तब शाम को अन्तिम बेला में दृश्य कितना करुणापूर्ण और आर्द्र हो उठता है।

वह सब वे सोच ही रहे थे कि दूर पगडण्डी पर कोई आता-सा दिखाई पड़ा। क्षण भर बाद कुछ पास आने पर यह स्पष्ट हुआ कि कोई नवयुवक है। पंडित काका ने सोचा—"कौन हो सकता है ?"

पर दूसरे ही क्षण पास आकर जुगाई ने पंडित काका को प्रणाम किया।

"आओ बेटा, आओ। अन्दर बैठो, मैं एक मिनिट में आता।" इतना—कह कर पंडित काका एक ओर को बढ़ गए।

जुगाई को बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि आज काका ने उन्

क्यों बुलाया। चोर को अपनी दाढ़ी पर सदा ही शक रहता है। सो उसने यह तो निश्चय कर ही लिया कि अवश्य ही बात उसके और चिन्ता के विषय में होगी पर चिन्ता और मेरे प्रेम के विषय में तो अभी किसी को मालूम भी नहीं है, यह भला कैसे हो सकता है। यही सब सोच विचार कर उसने धड़कते हुए दिल को राहत देने के विचार से कलेजे पर अपना बांया हाथ रख दिया और थके पावों अन्दर बढ़ गया। आंगन में ही एक चारपाई पड़ी थी। शायद पण्डित काका ने जान कर ही उसे धूप में डाल दिया था। जुगाई उसी पर सिकुड़ कर सिमटा सा बैठा रहा।

लगभग दो मिनट के बाद खाँसते हुए पंडित काका वहाँ आए। खाट पर वे भी चढ़ कर बैठ गए। एक बार बड़ा सा मुँह फैलाकर उन्होंने जम्हाई ली फिर कहा—"जुगाई!"

जुगाई का दिल बड़ी जोरों से धक्-धक् होने लगा मानों कोई हथौड़ों की चोट कर रहा हो और मौन जुगाई सब सह रहा हो। बड़ी कठिनाई से उसके मुँह से निकला—"हाँ काका!"

काका ताड़ गए। बोले—"आज इतना परेशान क्यों हो जुगाई।"

"नहीं तो काका।"

"नहीं कुछ बात है तो अवश्य।"

"भला काका मैं आप से कुछ छिपाऊँगा।"

"खैर न बता, न सही। हाँ जुगाई अब मैं चाहता हूं कि जितनी जल्दी चङ्गा हो जाऊँ उतना ही अच्छा हो।"

"क्यों आप अच्छे तो हो गए?"

"अरे अभी कहाँ अच्छा हुआ? देखो न कल जरा चना की दाल खा लिया था रात भर में तीन टट्टी हुई।"

"अभी कमजोरी तो है ही। ऐसी कड़ी-चीजें कुछ दिन न खाइये।"

"ऐसी चीजें खाने को ही चाहता हूँ कि आराम हो जाऊँ।"

"पर ऐसी खाने की ही क्या जरूरत हो सकती है ?"

"यही कि तेरे यहां मिठाई बने, गांव भर खाये और मैं न खाऊँ !"

जुगाई को लगा मानों कोई उसके कलेजे को पकड़ कर मसल रहा है। असाध्य वेदना से पीड़ित हो उसके मुँह से निकला—"मेरे घर, मिठाई...!"

"हाँ, हाँ तेरी शादी जो है। देखा, आज मैं तेरे लगन की तिथि विचार रहा था !" एक ओर चौकी पर रक्खे लाल कपड़े में लपेटी दो मोटी पुस्तकें और पत्रे की ओर इशारा करके काका ने कहा।

"मेरी शादी, काका ?" जुगाई को दुनिया घूमती सी लगी।

"अरे हाँ रे !"

"पर काका मैं तो शादी नहीं करूँगा।"

"शादी तो तय हो गई। अब तू करेगा कैसे नहीं। अगले महीने ही देख जब घर में बहू आ जायगी तब भी कह देना मैंने शादी नहीं की।"

काका ने मन लेने को यह बात कही थी।

क्षण भर जुगाई चुप होकर दिवार में बने छिद्रों को निहारता रहा। वह सोच रहा था यह दिवाल जब बनी थी तब कितनी सुन्दर थी पर अब इसमें एक छिद्र हो गया है। क्या अब भी यह पहले सी सुन्दर है ? नहीं—इस तरह इस दिवाल में अनेकों छिद्र बन जायँगे, और एक दिन आएगा जब दिवाल में छिद्र ही छिद्र रह जायेंगे। और इन छिद्रों से [illegible] पैर फैला कर गिर पड़ेगी। यही तो मनुष्य के जीवन में भी होता है।

जुगाई सोच रहा था क्या उसके जीवन में भी छिद्र होने शुरू हो गए हैं। यह जीवन भी ऐसा होता है जिस दिन जीवन छिद्रों से भर जायगा। मानव दुनिया से [illegible] मोड़ लेगा। [illegible] उड़ जाए।

तो क्या यह 'विवाह' जुगाई के जीवन में पहला छिद्र है ! नहीं यह

तो यह कभी नहीं मान सकता। पर यह शादी की बात क्यों अब चल रही है? क्या संसार को किसी का मस्त यौवन अच्छा नहीं लगता, जो उसे काटने का यह प्रयत्न हो रहा है। उसने हिम्मत करके काका को उत्तर दिया —

"मैं तो व्याह अभी नहीं कर सकता काका! और मैंने तय भी तो नहीं किया। व्याह कोई खेल तमाशा थोड़े ही है काका।"

"हाँ आज तू काका को यह समझाने आया है। बेटा देख, अब भी सम्हल जा। यही समझाने को मैंने तुम्हे यहाँ बुलाया है। जिद न कर। यह तू जिस प्रेम के चक्कर में पड़ा है वह तेरे लिए नहीं है। यह तो जीवन का भूल-भुलइया है जिसमें मनुष्य घुसता तो बड़े उत्साह के साथ है। पर जब चारों ओर का चक्कर लगाकर वह बीच में पहुँच जाता है और बाहर निकलने को द्वार नहीं पाता तो छटपटा कर प्राण त्याग देने के अलावा उसके पास रहता ही क्या है। अभी तो मेरे समझने को तुम बुरा भी मान सकते हो पर कभी न कभी माथे हाथ धर कर रोओगे कि हाय काका सच ही कहते थे मैंने नहीं माना। और दूसरे तुम घर के अकेले लड़के हो। देखो तुम्हारे बाप नहीं है अकेली मां है, वह भी तुम्हारे ही सहारे जिन्दा है। और यह प्रेम तो बड़ी कठिन चीज है। संसार में केवल दो ही काम तो ऐसे है जो सब कोई नहीं कर सकता। एक तो तपस्या दूसरे प्रेम, ये या तो वही करे जिसको संसार से कोई नाता न हो या वह करे जो घर का फालतू हो।" काका कहते ही गए।

"जानते हो, उस दिन जब तुम बरात में गए थे और चिन्ता की चिट्ठी आई—।"

"क्या चिठ्ठी आई थी?" जुगाई ने चौंक कर पूछा।

"हाँ तुम्हारे नाम थी।"

"वह कहाँ है काका?"

"क्या करोगे यह पूछ कर। पर तुमने बड़ा बुरा किया चिन्ता से

"पर ऐसी खाने की ही क्या जरूरत हो सकती है ?"

"यही कि तेरे यहां मिठाई बने, गाव भर खाये और मैं न खाऊँ !"

जुगाई को लगा मानों कोई उसके कलेजे को पकड़ कर मसल रहा है। असाध्य वेदना से पीड़ित हो उसके मुँह से निकला--"मेरे घर, मिठाई...!"

"हाँ, हाँ तेरी शादी जो है। देखा, आज मैं तेरे लगन की तिथि विचार रहा था !" एक ओर चौकी पर रक्खे लाला कपड़े में लपेटी दो मोटी पुस्तकें और पत्रे की ओर इशारा करके काका ने कहा।

"मेरी शादी, काका ?" जुगाई को दुनिया घूमती सी लगी।

"अरे हाँ रे !"

"पर काका मैं तो शादी नहीं करूँगा।"

"शादी तो तय हो गई। अब तू करेगा कैसे नहीं। अगले महीने ही देख जब घर में बहू आ जायगी तब भी कह देना मैंने शादी नहीं की।"

काका ने मन लेने को यह बात नहीं थी।

क्षण भर जुगाई चुप होकर दिवार में बने छिद्रों को निहारता रहा। वह सोच रहा था यह दिवाल जब बनी थी तब कितनी सुन्दर थी पर अब इसमें एक छिद्र हो गया है। क्या अब भी यह पहले सी सुन्दर है ? नहीं—इस तरह इस दिवाल में अनेकों छिद्र बन जायेंगे, और एक दिन आयेगा जब दिवाल में छिद्र ही छिद्र दिख पड़ेंगे। और इन छिद्रों से [illegible] यह दिवाल ढह कर गिर पड़ेगी। यही तो मनुष्य के जीवन में भी होता है।

जुगाई सोच रहा था क्या उसके जीवन में भी छिद्र होने शुरू हो गए हैं। यह जीवन भी ऐसा होता है जिस दिन जीवन छिद्रों से भर जायगा। [illegible] दुनिया से [illegible] होगा। [illegible] आत्म-संतोष [illegible]।

तो क्या यह 'शादी' जुगाई के जीवन में पहला छिद्र है ? यही वह

तो यह कभी नहीं मान सकता। पर यह शादी की बात क्यों अब चल रही है? क्या संसार को किसी का मस्त यौवन अच्छा नहीं लगता, जो उसे काटने का यह प्रयत्न हो रहा है। उसने हिम्मत करके काका को उत्तर दिया —

"मैं तो व्याह अभी नहीं कर सकता काका! और मैंने तय भी तो नहीं किया। व्याह कोई खेल तमाशा थोड़े ही है काका।"

"हाँ आज तू काका को यह समझाने आया है। बेटा देख, अब भी सम्हल जा। यही समझाने को मैंने तुम्हें यहाँ बुलाया है। जिद न कर। यह तू जिस प्रेम के चक्कर में पड़ा है वह तेरे लिए नहीं है। यह तो जीवन का भूल-भुलइया है जिसमें मनुष्य घुसता तो बड़े उत्साह के साथ है। पर जब चारों ओर का चक्कर लगाकर वह बीच में पहुँच जाता है और बाहर निकलने को द्वार नहीं पाता तो छटपटा कर प्राण त्याग देने के अलावा उसके पास रहता ही क्या है। अभी तो मेरे समझने को तुम बुरा भी मान सकते हो पर कभी न कभी माथे हाथ धर कर रोओगे कि हाय काका सच ही कहते थे मैंने नहीं माना। और दूसरे तुम घर के अकेले लड़के हो। देखो तुम्हारे बाप नहीं है अकेली मां है, वह भी तुम्हारे ही सहारे जिन्दा है। और यह प्रेम तो बड़ी कठिन चीज है। संसार में केवल दो ही काम तो ऐसे है जो सब कोई नहीं कर सकता। एक तो तपस्या दूसरे प्रेम, ये या तो वही करे जिसको संसार से कोई नाता न हो या वह करे जो घर का फालतू हो।" काका कहते ही गए।

"जानते हो, उस दिन जब तुम बरात में गए थे और चिन्ता की चिट्ठी आई—।"

"क्या चिठ्ठी आई थी?" जुगाई ने चौंक कर पूछा।

"हाँ तुम्हारे नाम थी।"

"वह कहाँ है काका?"

"क्या करोगे यह पूछ कर। पर तुमने बड़ा बुरा किया चिन्ता से

दिल लगा कर। जानते हो, वह है जमींदार की लड़की। और तुम! यह तो स्वयम् ही समझ सकते हो कोई छोटे तो हो नहीं। उन्नीस बीस साल के तो हो गए! देखो अभी यह बात तो केवल मेरे और तेरी मां के बीच में ही है, अगर किसी तीसरे को पता लगा तो बहुत बदनामी होगी और अगर जमींदार साहब को पता लगा तो जानते हो—गाँव में रहना मुश्किल हो जायगा।"

"पर काका क्या और कहीं दुनिया में रहने को ठिकाना ही नहीं है?"

"है क्यों नहीं बेटा पर अपने आप केवल बेवकूफी में फँस कर मुसीबत मोल लेना ही क्या क्या बुद्धिमानी है?"

"पर काका तुमने ही तो कहा था कि मनुष्यों को मुसीबत से घबड़ाना न चाहिए।"

"हाँ, न चाहिए, पर जब अपना ही पला दबा रहेगा तो भला किस बात पर हम अकड़ सकेंगे?"

जुगाई चुप रहा। उसके अन्तर की परेशानी उसके चेहरे पर पूर्णतया छा चुकी थी।

"अब भी अपनी माँ..................।" काका की बात अधूरी रह गई।

"पर काका आप तो समझते हैं, भला हम अब कर ही क्या सकते हैं?" जुगाई ने कहा।

"सीधा रास्ता है। सस्ता और साफ सुथरा।"

"वह कौन?"

"यही कि लिना का ख्याल छोड़ दो। माँ शादी की बात तय कर चुकी है। हँसी-खुशी ब्याह कर लो और अपना घर संभालो। माँ को सुख दो। जग-हँसाई कराओगे तो तुम्हें ग्लानि होगी तुम्हारे पुरखों को भी कलंक लगेगा।

"पर काका। शादी मैं कर [illegible] सकता हूँ। लिना को हमने

वचन दे रक्खा है। वह हमें दगाबाज समझने लगेगी।"

"समझने दो, कौन तेरी बेटी ब्याही है उसके यहाँ जो शर्म की बात है। उसका परिवार तो सदा से ही तुम लोगों का शत्रु रहा है। सदा ही उन्होंने तुम्हारी जड़ काटने का ही प्रयत्न किया। पनपने में सहायता भला कब दी?"

"सब कुछ है पर चिन्ता तो इसमें निर्दोष है।"

"खून माँस का भी तो असर होता ही है। अभी वह नासमझ हैं बड़ी होने दो, फिर देखना। ऊपर से यह औरत की जात। कभी सच्ची हुई है यह?"

"कुछ भी हो काका, चिन्ता वैसी नहीं। शादी तो मैं उसीसे करूँगा। जो निश्चय किया है सो पूरा करूँगा।"

"खानदान का नाम चौपट करोगे।"

"जिस दिन नाम की बात होगी, जान दे दूगा। उसमें तो कोई न रोक सकेगा।"

"तो जब तूने निश्चय ही कर लिया है तो हमारा समझाना ही व्यर्थ है। मानेगा तो है नहीं। और जबरदस्ती कर सकेगा। फिर पीछे न कहना कि काका अब क्या करूँ। हमारी बिलकुल सहानुभूति फिर तुम्हारे साथ न रहेगी।" यह कह कर काका चुप हो गए उनकी बातों से तो यह ज्ञात ही हो गया जुगाई को कि काका असन्तुष्ट हैं।

क्षण भर शान्ति रही। काका भी कुछ सोचते रहे और यह जुगाई भी कुछ सोचता रहा। फिर उठते हुए उसने कहा—"अब चलूँ काका।"

"हाँ जाओगे! जाओ।"

"काका पालागन।"

"खुश रहो।"

जुगाई चला गया पर काका वैसे ही खाट पर घंटों बैठे सोचते रहे। उनसे जुगाई का खानदान यों नष्ट होते नहीं देखा जा रहा था।

"अच्छी है हमें हुआ ही क्या है ?"

"कुछ नहीं हुआ तो यों क्यों पड़ा है ? उठ न चल खा ले !"

"मैं नहीं खाऊँगा ।"

"क्यों ?"

"भूख नहीं है ।"

"अच्छा चल, एक ही दो रोटी खा ले ।"

"कह दिया मां नहीं खाऊँगा, नहीं खाऊँगा ।" बुरी तरह झुंझला कर जुगाई ने यह कहा ।

मां को यह बड़ा बुरा लगा । जुगाई ने ऐसा व्यवहार तो कभी नहीं किया था फिर आज इसे हो क्या गया है । दुःख से मां का कण्ठ भर गया । ऐसे अवसरों पर औरतें बड़ी जल्दी अपने सुख के दिनों की स्मृति जगा कर रोने लगती हैं । यही जुगाई की मां ने भी किया । कुछ रुआंसी सी होकर वे कहने लगीं ।

"क्या बेटा, इतना बड़ा हुआ तेरा जी नहीं देखता कि किस तरह मर-मर कर चौबीस घंटे काम में पिसी रहती हूँ । सदा तू तंग ही किया करता है । मैंने न जाना जीवन भर कि सुख किसी चिड़िया का नाम है । लड़कपन में बाप के यहाँ रही । ब्याह हुआ लोगों ने कहा सुख के घर जा रही हूँ । यही सुख हमें मिल रहा है ?

मां एक स्वर में कहती चली जा रही थी ।

"और लोग कहते हैं, बेटा, बेटी बड़े भाग्य से मिलते हैं । पर क्या सुख हमें मिला तुझे ? भगवान ! हमें अब तू उठा ले इस दुनिया से । मरे बैठी हूँ इस खाल बाटी, पाट फटे । फिर तू जाने और जाने तेरी मेहर ।"

"बस मां ! शादी-वादी का नाम तू मेरे सामने अब न लेना— नहीं तो अच्छा न होगा ।" जुगाई गुस्सा हो गया था ।

"क्या शादी न करूँ ? क्या जन्म भर कुंआरा ही रहेगा ?"

"हाँ मैं शादी नहीं करूँगा ।"

"अगर इतना होता तो क्या था ?"

"माँ !" जुगाई ने मां को रोका। सोचा, कहीं ऐसा न हो कि गुस्से और ग्लानि में माँ कुछ अटपटा कह बैठे। चिट्ठी की बात तो उन्हें मालूम ही है।

क्षण भर चुप्पी रही। जुगाई तो लेटा ही रहा पर माँ पास ही खड़ी आसुओं से आँचल गीला कर रही थी।

फिर माँ आखिर वह बरदाश्त न कर सकी और बोली।

"अच्छा बता, चिन्ता ने तुझे चिट्ठी क्यों लिखी थी ?"

जुगाई पर घड़ों पानी पड़ गया। वह काँप कर ही रह गया।

"बता अगर किसी को पता लगा तो क्या होगा ? खानदान की इज्जत का भी तूने कभी ख़्याल किया ? तू तो ऐसा था नहीं पर जाने किसकी आदत तूने सीखी। घर में तो ऐसा कभी हुआ नहीं, न किसी में ऐसी आदत ही थी। आजकल के लड़के ही ऐसे होते हैं। बेटा इन आदतों में न पड़ नहीं तो कोई अपने घर के पास भी न फटकने देगा। रास्ते में कोई बात भी न करेगा। केवल जग-हंसाई होगी और कुछ नहीं। और अगर कहीं जमीदार साहब को पता लग गया तो क्या होगा ? भगवान ही मालिक है।"

माँ बड़बड़ाती जा रही थीं और जुगाई का बोल बन्द था। वह सांस खींचे चुपचाप सन्न-पड़ा रहा।

माँ ने पुनः कहा—"अच्छा बता बेटा क्या तू मेरी बात मानेगा ?"

"................" जुगाई ने कुछ न कहा।

"बोल मानेगा ?"

"क्या ?" बड़े धीरे से वह बोला।

"यही कि मैं जो कहूँ सो कर। शादी कर ले और हमें छुट्टी दे दे। अब तू इतना बड़ा हो गया है कि अपना खर्च चला सके। बुल्लेबाजी के दिन तेरे अब गए।"

बोला—

"पहले जा मुँह मीठा कराने को कुछ लेता आ तभी बताऊगा।"

"अरे क्या बतायेगा।" नवनीत का हाथ पकड़ कर चलते हुए जुगाई ने कहा।

"तेरे ही लिए खुशी की बात है, अभी देखा और तेरे पास दौड़ा आया।"

"अरे क्या बतायेगा भी।"

"वही! वही—चिन्ता आ गई।"

"आ गई!"

"हाँ। अभी अभी, डोलियाँ उतरी हैं। मैं उधर से आ रहा था तो देखा।"

"क्या सच।"

"हाँ। यही कहने मैं आया था और अब जा रहा हूँ। बाबा हमारे आसरे में अभी खेत पर ही हैं।"

"अच्छा तो अभी जाऊँ।"

"क्या पागल हुआ है। अभी कैसे मिलेगी वह। अभी तो अपने माँ बाप से बातें करेगी। और तुझसे कैसे मिलेगी। क्या घर में बुलाएगी।"

"हाँ तुम ठीक ही कहते हो। कल सुबह मिलूँगा। अभी हमें भी घर ही लौट जाना चाहिए। माँ आज बहुत नाराज हैं।

"क्यों, क्या किया?"

"अरे कुछ नहीं, बिना मतलब।"

"आखिर क्या हमें भी बता न।"

"यही कि मां कहती है मुझे शादी कर लेनी चाहिए। उन्होंने किसी धनी जमींदार के यहाँ शायद तय भी कर ली है। यह तो आज हमें पण्डित काका से पता लगा।"

"अच्छा।"

सत्रह

रात भर जुगाई को नींद न आई। अगर कमरे में कोई दूसरा होता तो वह रात भर खाट की मचमच से परेशान अवश्य हो उठता। जुगाई सारी रात यही सोच रहा था कि क्या नवनीत का कहना सत्य होगा? क्या चिन्ता को सचमुच वह प्राप्त न कर सकेगा। अगर ऐसा होगा तो वह जीवन भर रोता ही रहेगा। नहीं ऐसा उसे सोचना भी न चाहिए। चिन्ता को उसने प्रेम किया है तो इसलिए कि पाए, न कि रोए। और अगर सचमुच चिन्ता से उसे अलग होना पड़ा तो वह अपनी जान दे देगा। पर यह माँ!

माँ का ख्याल आते ही जुगाई का सारा प्रेम ठण्डा पड़ जाता है। जीवन में केवल माँ के ही प्यार और स्नेह ने उसे अब तक इतना बड़ा बनाया है। माँ की किसी बात की अवज्ञा वह कर नहीं सकता। उसी दिन शादी के विवाद में उसने इन्कार तो कर दिया। माँ को उससे चोट तो पहुँची ही पर जुगाई को कितनी ग्लानि उपजी थी, यह सोच कर ही वह एक बार हिल गया। मां तो शादी के लिए जिद कर ही रही हैं। चिन्ता की भी बात उन्हें पता लग गई है। ऐसी परिस्थिति में उसे क्या करना चाहिए। वह अगर शादी कर भी लेता है तो चिन्ता की ओर से बुराई है—वह समझेगी कि जुगाई ने छल किया और चिन्ता का इतना समझ भर लेना ही जुगाई के लिए डूब मरने की बात है। फिर भला वह जीवन भर चिन्ता को मुँह कैसे दिखा सकेगा!

दिन भर की रास्ते की थकान वह शायद ही सह सकी होगी।

अब तक वह उसी पगदण्डी पर चुपचाप चला जा रहा था। कारण, घर के निकट क्षण भर को भी ठहरना उसने उचित न समझा। अब तक वह बिल्कुल घर के पीछे आ गया था। वह सोच रहा था कि इस समय अगर कोई ऐसा मिले कि चिन्ता को वह बुला दे तो जुगाई उसे मुँह मांगा दान दे सकता है। तभी उसका ध्यान जमींदार के घर के पीछे वाले दरवाजे पर गया। उसका एक पल्ला खुला था और एक बन्द। जुगाई ने सोचा यह दरवाजा तो केवल स्त्रियों के जंगल आदि आने जाने के लिए है। अगर चिन्ता अब तक लौट न चुकी होगी तब तो वह थोड़ी देर या घन्टे दो घन्टे बाद, अवश्य ही आवेगी यह विचार कर उसने वहाँ रुकने का निश्चय किया। आगे बढ़ कर बड़ का एक बड़ा पुराना वृक्ष है उसके नीचे एक कच्चा पर मजबूत थाला बना है। थाला है बहुत पुराना। जुगाई को याद आया। बचपन में जब वह अपनी गाय या बैल चराने आता था इस ओर तो गाँव के और लड़कों के साथ इसी थाले पर बैठा करता था। उसी चिरपरिचित थाले पर वह पेड़ की आड़ में बैठ गया। रह रहकर दरवाजे की ओर देख लेता था।

थोड़ी देर उसी प्रकार देखते रहने के बाद उसने एक बार देखा कि वह दरवाजा खुला और एक प्रौढ़ा रमणी बाहर निकली उनके पीछे एक और औरत थी जो वेश भूशा में गरीब थी जुगाई ने समझा आगे वाली जमींदार साहब की पत्नी हैं और पीछे नौकरानी। दोनों उस दरवाजे से बाहर आई नौकरानी ने घूम कर दरवाजा बन्द कर दिया. फिर दोनों मालकिन और नौकरानी दक्खिन् ओर वाली झाड़ी की ओर बढ़ गईं। तभी एकाएक मालकिन ने घूम कर नौकरानी से कहा—"देख तो सुखिया चिन्ता भी जाग गई है। उसे भी बुला ले साथ ही निपट ले, नहीं तो अकेले आना पड़ेगा।"

नौकरानी लौट पड़ी। थोड़ी देर तक तो मालकिन अकेले ही

कहा—"तू उसे लेकर आना मैं चलती हूँ।" और वह चली गई!

इधर चिन्ता झाड़ी पार कर उधर ही बढ़ गई जहाँ जुगाई खड़ा था। चिन्ता को आता देख जुगाई गन्ने के खेत में घुस गया। आदमी की उंचाई से भी ऊँचे ऊँचे ये गन्ने के पेड़ कितने भले थे जो चिन्ता और जुगाई को इन्होंने अपने में छिपा लिया। एक एक पेड़ से अपने में रगड़ लगने से बचाती हुई वह जुगाई के निकट पहुँची। गन्ने के पेड़ों की छालों की धार तलवार की धार से किसी प्रकार कम नहीं होती। आगे बढ़कर वह जुगाई के निकट पहुँची। जुगाई ने बढ़ कर चिन्ता को एक बार कलेजे से लगा लिया। फिर पूछा—"कब आई चिन्ता?"

"कल शाम को।"

"हमें कल ही पता लग गया था!"

"तो कल ही क्यों नहीं आए?"

"कल तुमसे मिलता कैसे?"

"हाँ यह भी ठीक है।" चिन्ता ने कहा।

"तुम कुछ दुबली हो गई हो।" जुगाई ने कहा। जब अपना प्रिय कभी अरसे के बाद मिलता है तो आखों को दुबला ही मालूम होता है।

"नहीं दुबली तो नहीं हूँ, पर हो सकता है तुम्हारे विरह का यही फल हो।" चिन्ता ने एक कटाक्ष के साथ कहा।

जुगाई को इस पर कोई उत्तर न सूझा। वह अवाक हो गया। चिन्ता की यह बात उसे बड़ी प्रिय लगी। तभी उसे माँ के बातों की याद आई उसने सोचा—क्या चिन्ता से बढ़ कर कोई मुझसे प्रेम करेगा। इससे अच्छी पत्नी उसके योग्य संसार में दूसरी नहीं। माँ को भी वही चुनाव करना चाहिए।

तभी शान्ति देखकर चिन्ता नें कहा—"हाँ यह तो बताओ, हमारी चिट्ठी तुम्हें मिल गई थी न?"

इतना सुनते ही जुगाई के होश उड़ गए। अब भला वह क्या उत्तर दे झट कह दिया घबड़ा कर।

"हां, पर..........।"

"क्या?"

"चिट्ठी से बड़ा बुरा हुआ!"

"क्या?" चिन्ता भी चिन्तित हुई।

"यही कि उस दिन मैं वहाँ था नहीं, बारात में चला गया था तभी तुम्हारी चिट्ठी आई और वह पण्डित काका के हाथ पड़ी। उन्हें तो तुम जानती ही होगी।"

"हाँ हाँ! जो कभी कभी बाबूजी के पास आते हैं।"

"हाँ वही, उन्होंने माँ को चिट्ठी दे दी। माँ को सब पता लग गया। उन्होंने हमें डाँटा भी था।"

"क्या डाँटा?" चिन्ता ने जानना चाहा।

"यों ही, कुछ नहीं। हां, उसी के कारण उन्होंने मेरी शादी करने की बात तय की है।"

"अरे तो तुम्हारी शादी भी तय हो गई? मैं तो जानती ही थी......।"

"अरे नहीं, तय तो हो गई पर मैं क्यों करने लगा। मैंने तो इन्कार ही कर दिया है।" जुगाई घबड़ा कर बोला।

"पर तुम्हारे इन्कार से होता ही क्या है? अगर कहीं बाबूजी को यह पता लगा कि मेरे कारण तुम जिद कर रहे हो तो—तो बड़ा बुरा होगा। वे तो जबरदस्ती ही शादी करा देंगे।"

"चिन्ता! तुम तो ऐसा न कहो। सभी तो कहते ही हैं। तुम तो सान्त्वना दो अन्यथा मुझमें इतनी शक्ति कहाँ होगी कि मैं सब से लड़ सकूँ।" आहत हो जुगाई बोला।

"क्या, जुगाई वही हुआ जो मैं जानती थी। मुझे तो निरंजना ने पहले ही कहा था कि यह मर्द की जात बड़ी दगाबाज ...।"

"पर सभी मर्द दगाबाज नहीं होते चिन्ता।" जुगाई ने बीच में ही संशोधन किया।

"सभी होते हैं। जब तुम्हीं ऐसे निकले तो औरों की क्या? हमने शहर में भी सुना कि जितने मर्दों ने स्त्री से प्रेम किया उसे अधमरा करके छोड़ दिया। हमने तो दो बार बाइसकोप भी देखा था, उसमें भी यही था। बेचारी औरतें इतनी नादान होती ही हैं कि मर्दों के के चक्कर में पड़ जाती हैं। नहीं तो यही मर्द औरतों के पीछे-पीछे नाचें। सीधापन का गलत लाभ तुम लोगों ने उठाया।"

जुगाई अब तक सुनता रहा फिर कहा—"मैं कसम खाकर कह सकता हूं चिन्ता कि मैं तुम्हारे सिवा किसी और से शादी करके जिन्दा रह ही नहीं सकता।"

"यही तो मर्दों को बातें बनाना बहुत आता है।"

"नहीं रानी ऐसा न कहो।"

"तो तुम्हारी शादी हो रही है?" क्षण भर बाद चिन्ता ने फिर कहा।

"मैं शादी नहीं करूँगा।"

"तुम्हे विवश होकर करना पड़ेगा।"

"मैं नहीं करूँगा।"

"मेरी शपथ खा सकते हो?"

"हाँ तुम्हारी शपथ, जो मैं तुम्हारे सिवा किसी और से शादी करूँ....।"

इसके बाद दोनों चुप रहे। पर चिन्ता की आकृति कह रही थी कि उसे विश्वास नहीं हुआ।

जुगाई की दशा इस समय विचित्र हो रही थी। मानो बड़े भारी पत्थर में बाँध कर किसी ने उसे गङ्गा जी में छोड़ दिया है कि डूबने के अलावा उसके पास कोई चारा नहीं। चाहे वह कितना ही हाथ पाँव क्यों न मारे। वह इस समय कुछ बात करने को व्याकुल हो रहा

इतना सुनते ही जुगाई के होश उड़ गए। अब भला वह क्या उत्तर दे झट कह दिया घबड़ा कर।

"हां, पर............।"

"क्या ?"

"चिट्ठी से बड़ा बुरा हुआ !"

"क्या ?" चिन्ता भी चिन्तित हुई।

"यही कि उस दिन मैं वहाँ था नहीं, बारात में चला गया था तभी तुम्हारी चिट्ठी आई और वह पण्डित काका के हाथ पड़ी। उन्हें तो तुम जानती ही होगी।"

"हाँ हाँ ! जो कभी कभी बाबूजी के पास आते हैं।"

"हाँ वही, उन्होंने माँ को चिट्ठी दे दी। माँ को सब पता लग गया। उन्होंने हमें डाँटा भी था।"

"क्या डाँटा ?" चिन्ता ने जानना चाहा।

"यों ही, कुछ नहीं। हाँ, उसी के कारण उन्होंने मेरी शादी करने की बात तय की है।"

"अरे तो तुम्हारी शादी भी तय हो गई ? मैं तो जानती ही थी......।"

"अरे नहीं, तय तो हो गई पर मैं क्यों करने लगा। मैंने तो इन्कार ही कर दिया है।" जुगाई घबड़ा कर बोला।

"पर तुम्हारे इन्कार से होता ही क्या है ? अगर कहीं बाबूजी को यह पता लगा कि मेरे कारण तुम जिद कर रहे हो तो—तो बड़ा बुरा होगा। वे तो जबरदस्ती ही शादी करा देंगे।"

"चिन्ता ! तुम तो ऐसा न कहो। सभी तो कहते ही हैं। तुम तो सान्त्वना दो अन्यथा मुझमें इतनी शक्ति कहाँ होगी कि मैं सब से लड़ सकूँ।" आहत हो जुगाई बोला।

"क्या, जुगाई वही हुआ जो मैं जानती थी। मुझे तो निरंजना ने पहले ही कहा था कि यह मर्द की जात बड़ी दगाबाज ...।"

जुगाई वहीं का वहीं खड़ा रह गया। वह सोच रहा था कि आज किसका मुँह देख कर वह उठा है जो रामदीन ने देख लिया अब वह जमींदार साहब से अवश्य कहेगा। वे क्या करेंगे—भगवान जाने।

उसका सिर घूम गया। हाय, करके, सिर थाम वह वहीं मेड़ पर बैठ गया।

अदृष्य का हाथ बड़ा क्रूर है। और अपने पंजों से वह किसी को मुक्त नहीं होने देता। उसका काला पंजा आज जुगाई और चिन्ता पर पड़ा है। अन्त क्या होगा स्पष्ट है—बिल्कुल काला।

———

था पर बात कोई करने को थी ही नहीं।

व्यथा की मूर्ति बनी चिन्ता ने कहा--"अब मैं चलूँ।"

"जाओगी?"

"हाँ"

"फिर कब मिलोगी?"

"जब कहो।"

"शाम को मिलोगी?"

"अच्छा, पर कहाँ?"

"चली जाना अपने बाग में, फिर टूटी दिवार के पीछे मिल लेंगे।"

"अच्छा।" कह कर चिन्ता खेत से बाहर निकली।

जुगाई भी उसके साथ साथ चल रहा था।

चिन्ता ने कहा—"अब हमें भी जाने दो, कहीं कोई मिल न जाय।"

"मिल जाय तो क्या होगा?" जुगाई ने कहा।

चिन्ता के पास इसका कोई उत्तर न था।

दोनों चुपचाप चले जा रहे थे। जुगाई अपने भाग्य पर सोच रहा था और चिन्ता सोच रही थी कि इतनी देर हुई माँ दाई वहाँ खड़ी होंगी, या जाने क्या सोचा होगा।

तभी पीछे से जमींदार साहब का नौकर रामदीन, बछड़ा भाग गया था सो उसी को पकड़े चला आ रहा था। बगल से निकला तो चिन्ता को देख कर घबड़ा उठा और पूछा—"बिटिया तुम यहाँ!"

अब बिटिया को काटो तो खून नहीं।

जुगाई तो नीला पड़ गया।

रामदीन ने एक बार क्रोध, घृणा और भेदभरी दृष्टि से जुगाई को देखकर फिर चिन्ता को घूरा और कहा—"घर चलो बिटिया।"

चिन्ता रामदीन के साथ चली गई।

जुगाई वहीं का वहीं खड़ा रह गया। वह सोच रहा था कि आज किसका मुँह देख कर वह उठा है जो रामदीन ने देख लिया अब वह जमींदार साहब से अवश्य कहेगा। वे क्या करेंगे—भगवान जाने।

उसका सिर घूम गया। हाय, करके, सिर थाम वह वहीं मेड़ पर बैठ गया।

अदृष्य का हाथ बड़ा क्रूर है। और अपने पंजों से वह किसी को मुक्त नहीं होने देता। उसका काला पंजा आज जुगाई और चिन्ता पर पड़ा है। अन्त क्या होगा स्पष्ट है—बिल्कुल काला।

उस शाम जुगाई बाग के आस-पास कई चक्कर लगा गया पर चिन्ता न दिखाई पड़ी। उसे लगा मानो चिन्ता को घर वालों ने अवश्य डाँटा मारा होगा। रामदीन ने जमींदार साहब से कहा भी अवश्य होगा। आखिर शाम हुए जब अँधेरा आया तो वह भारी दिल के साथ उदास घर लौटा आया।

घर पर आया तो माँ नहीं थी। घर सूना पड़ा था। माँ को न देख उसका कलेजा धक् से हो गया। यों तो माँ प्रतिदिन ही अगल-बगल में आया ही जाया करती हैं पर आज का उसका कहीं जाना अधिक सन्देह पूर्ण मालूम हुआ।

माँ को जमींदार साहब ने बुलवाया था। वह वहीं गई थी। जमींदार साहब आज दिन भर पागल से बड़बड़ाते रहे। चिन्ता को डर के मारे माँ ने उनके सामने नहीं होने दिया। डर था कहीं गुस्से में आ कुछ कर न बैठें। रह रह कर वे चिन्ता की माँ की ही ओर झुंझला-झुंझला कर दौड़ते थे। उनका विचार था कि चिन्ता को बर्बाद करने वाला माँ का प्यार ही है।

और इधर चिन्ता रो रो कर संसार सिर पर उठाए ले रही थी। माँ परेशान थी। चिन्ता का रोना उससे देखा नहीं जा रहा था। चिन्ता कह रही थी कि उसने कोई पाप नहीं किया। बाबूजी व्यर्थ ही नाराज हो रहे हैं। उसने वही किया है जो संसार के हर प्राणी करते हैं। उसका विवाह जुगाई से ही होने चाहिए और किसी अन्य से नहीं।

माँ समझा रही थी—"बेटा, ऐसा नहीं बकना चाहिए, तू औरत है। औरत कभी अपने मुँह से ऐसी बातें नहीं कहती। और फिर जुगाई के बाप से और तुम्हारे बाप से कितनी लड़ाई रहती थी। जो आदमी सदा से ही अपना शत्रु रहा है उसके लड़के से वह तुम्हारी शादी क्यों कर करने लगे।"

"यह सब तो ठीक है, पर यदि बाबूजी ने मेरे मरजी के खिलाफ

कुछ किया तो मैं जहर खालूंगी !"

"अरे ऐसी बातें मुंह से न निकालो बेटी। तू जो कहेगी वही होगा।"

माँ के आश्वासन से चिन्ता कुछ थमी।

शाम को बाबू साहब नें जुगाई की माँ और जुगाई को बुलवाया। जुगाई तो घर पर था नहीं केवल माँ ही थी, सो गई।

जुगाई की माँ के वहाँ पहुचने पर बाबू साहब अन्दर आए। जुगाई की माँ, चिन्ता की माँ के पास बैठी बातें कर रही थीं।

बाबू साहब भीतर आए।

जुगाई की माँ ने घूँघट नीचा कर लिया।

आते ही बाबू साहब ने कहना शुरू किया—"ठकुराइन! ठाकुर के मरने पर तो हमने सोचा था कि तुम हो और तुम्हारा लड़का। गाँव में रहोगे अच्छा है। दुश्मनी तो ठाकुर से था तुम लोगों से कैसी, पर मुझे पता नहीं था कि आस्तीन की नागिन बनकर तुम डसोगी। आखिर तुम्हारे बेटे ने हमारा मुंह काला किया न!"

जुगाई की माँ को ये बातें बड़ी कड़ुवी लग रही थीं। मन तो हो रहा था कि उत्तर दें पर दूसरे के घर आकर लड़ना उसने अच्छा न समझा और चुप रहीं।

"मेरी लड़की भला यह सब दुनियादारी क्या जाने! जुगाई ने ही यह सब सिखाया है, वर्ना वह भोली भाली लड़की इन बदमाशों के चक्कर में कैसे आती!"

मन में तो आया कि जुगाई की माँ कह दे कि जुगाई अधिक भोला था उसे बर्बाद करनेवाली तुम्हारी ही भोली है। पर फिर भी वह चुप रही।

अन्त में चुप्पी देख बाबू साहब ने बड़ी बुरी तरह पूँछा।

"क्या? कुछ सुनाई नहीं पड़ा—अब भी सबर नहीं हुआ क्या?"

अब बड़े धीमे स्वर में जुगाई की माँ ने उत्तर दिया—

"बाबू, अब जो हो गया सो हो गया। मान लेती हूँ कि मेरी ही गलती थी पर अब आप ही बताओ कि किया क्या जाय?"

"किया क्या जाय ! अब भी दया करो और जुगाई की शादी कर के मेरी इज्जत बचाओ। अबकी ही लगन में जहाँ भी होगा हम चिन्ता को निपटा देंगे।"

"पर जुगाई अभी शादी नहीं करने देगा।"

"क्या सब उसी के मन का होगा। हमारी इज्जत कुछ नहीं। देखो गाँव में रहना दुश्वार हो जायगा। घर बार जलवा डालूँगा, रहने को भी ठिकाना न होगा। समझीं। अगर बड़ी सेखी हो तो फिर देख ही लेना। ठाकुर का बदला बेटे से लूँगा।"

जुगाई की माँ के अन्दर पुरानी प्रतिष्ठा जाग उठी। उसने उस हृदय को हिला दिया। अब वहाँ एक मिनट भी बैठना उसे अपमानजनक लगा।

"अच्छी बात है जुगाई का ब्याह हो जायगा।" कह कर अप चद्दर उठा कर उसने ओढ़ा और बाहर की ओर बढ़ी।

बाबू साहब की पत्नी—ठकुराइन, ठकुराइन ! चिल्लाती ही र पर ठकुराइन घर के बाहर हो चुकी थीं।

चिन्ता कमरे में छिपी यह सब देख रही थी। बाप का इस स का व्यवहार उसे काँटे सा चुभा।

जुगाई की माँ घर आई। जुगाई उसके इंतजार में बैठा र देखते ही पूछा—"कहाँ गई थीं माँ ?"

माँ कुछ न बोली। जुगाई मामला क्या है समझ न पाया। पुनः पूछ

"क्या हुआ माँ।"

"चिन्ता के बाप के यहाँ गई थी।"

"क्या बुलवाया था, माँ ?"

"हाँ"

"क्या कह रहे थे ?"

"कह रहे थे कि घर-बार जलवा दूँगा, रहने को भी ठिकाना न रहे

"ऐसी हिम्मत ! माँ, मैं कहो तो उन्हें दिखला दूँ इसका मज

'नहीं बेटा हम गरीब हैं। लड़ने से लाभ नहीं। अपना पल्ला कर ही रहना चाहिए।"
"तो तुम इतना सब सह लोगी?"
"सहूँगी नहीं तो करूँगी क्या। अगर तेरे जगह दूसरा लड़का तो इसका ऐसा मुँहतोड़ जवाब उन्हें देता कि जन्म भर याद करते।"
"अच्छा तो क्या करना चाहिए?"
"तू तो मानेगा ही नहीं।"
"मानूँगा माँ। उन्होंने हमारे बाप को गाली दी है।"
"तो चिन्ता से अब न मि।"लना
"यह तो ... ... "
"यह तो क्या? छोड़ दे चिन्ता को और मेरा कहना मान कर ी कर ले। तब देखूँ उनकी लड़की भोली थी या तू भोला था।"
जुगाई पर इस समय वंश की लज्जा का सवाल था। क्या वह चिन्ता इसी मोल पर बेच दे? इस समय चिन्ता का वह रूप उसे याद आया उसने कहा था कि मर्द ऐसे ही दगाबाज होते हैं। चुड़ैल!
क्षण भर में ही उसने माँ के कहे पर निश्चय कर लिया— ाच्छा माँ मैं शादी करूँगा।"
आवेश में जुगाई ने कह तो दिया पर भविष्य न सोचा। उसके तर से किसी ने कहा—"क्षणिक निश्चय तो अनिश्चित ही है।"
माँ को स्वीकृति मिल गई। तुरन्त पण्डित काका के पास खबर ा, ब्याह की साइत देख कर तैयारी करने को।
और जुगाई सोच रहा था कि स्वीकृति तो उसने माँ को दे दी पर न्ता तो उसे दगाबाज समझेगी ही। पर होता क्या है इससे—उसे द आया पण्डित काका का वह वाक्य जो उन्होंने कहा था—मनुष्य ा पत्थर होना चाहिए, पत्थर! तभी संसार में वह कुछ कर सकेगा? अब वह पत्थर बन जायगा जिस पर चिन्ता जैसी पानी की बूँदों ा कोई असर न होगा।

उन्नीस

जुगाई का व्याह हो गया। बहू घर आई। सुन्दर तो वह दस में एक है। बोल चाल में भली। स्वभाव तो अभी अच्छा ही लगता है। फिर पीछे की राम जाने।

ऐसी पत्नी पा जुगाई चिन्ता को तो भूल ही जायगा इसमें शक नहीं। शादी से सभी खुश थे।

नवनीत के छोटे भाई को चेचक निकली थी सो वह बारात नहीं जा सका था। जुगाई से मिलने आया! बोला, "कहो जुगाई सुन्दर भाभी लाए! मेरी मिठाई!"

"मिठाई तो माँ देंगी—हाँ, और कुछ माँगो तो हम दें। का लल्ला कैसा है।"

"अब अच्छा है।"

जुगाई उठा और नवनीत का हाथ पकड़ कर बाहर आया और एकान्त में ले जाकर पूछा—

"कहो चिन्ता का तुम्हें कुछ पता है?"

"हाँ कुछ तो मालूम है पर तुम्हें बताऊँगा नहीं।"

"क्यों?"

"इसलिए की अच्छी बात न है।"

"अच्छी बात नहीं है। बता दे नवनीत अधिक न सता, हमें डर लग रहा है।" जुगाई को कुछ शक लगा।

"हमने तो जो कुछ सुना वही मालूम है।"

"क्या मालूम है?" जुगाई जल्दी ही सुनना चाहता था।

"यही कि जिस दिन तुम्हारी बारात गई थी उसने अफीम खा ली। नव घण्टे बेहोश रही। बड़ी बड़ी मुश्किल से पेट की अफीम निकाली

और अब दवा के लिए शहर गई है। हमें तो कम ही आशा है बचने की।"

"क्या ?"

"हाँ।"

"तब तो मैं आज ही शहर जाऊँगा।"

"शहर जायगा। शादी हो गई और फिर भी तेरा पागलपन न छूटा।"

"नहीं नवनीत तू नहीं समझता।"

"सब समझता हूँ पागल न बन और शहर मैं नहीं जाने दूँगा। तुम्हें मालूम है वे लोग कहाँ गए हैं ?"

"अपने मौसी के यहाँ होगी चिन्ता। उसने हमें बताया था।"

"तो जा तुझे जो करना हो कर।"

फिर इधर उधर की बातें हुईं और नवनीत जब चला गया तो जुगाई ने माँ से बहाना बना कर शहर जाने की तैयारी की।

....

शहर में बड़ी मुश्किल के बाद उसे चिन्ता की मौसी का घर मिला। वह भी न मिलता। चिन्ता ने तो उसे केवल मुहल्ला का नाम बताया था। वह मुहल्ले भर में ही चक्कर काट रहा था कि एक लड़की पर उसे निरंजना दिखाई पड़ गई। उसने झट पहचान लिया कि यह वही लड़की है जो चिन्ता के साथ कभी गाँव में घूमती थी।

निरंजना तो जुगाई को पहचानती ही थी और जब से चिन्ता का मामला हुआ उसे जानना ही पड़ा। जुगाई को देखते ही वह चिन्ता के पास आ गई और बोली—"लो, आ गया वह देहाती।"

"कौन !" आह कर के बिस्तरे पर लेटी चिन्ता ने पूछा। वह अब बड़ी दुबली हो गई थी। अस्वस्थ तो वह थी ही।

"शकुन्तला ने किसके लिए तपस्या की थी ? चिन्ता ने किसके लिए यह दुर्दशा की है ?" मुस्करा कर निरंजना ने पहेली बुझाई।

"कुछ तो नहीं, अपने करने से कुछ थोड़े ही होता है, भाग्य जो
ता है वही होता है।"

"चिन्ता अगर तुमने मुझे कुछ भी सहारा दिया होता .... ।"

"क्या सहारा की कहते हो! अब भी झूठ बोल कर मेरी आत्मा
दुःखाना चाहते हो?"

"नहीं चिन्ता पर मैंने केवल माँ के कहने पर और जोश में
कर यह सब कर लिया।"

"अच्छा ही किया। यही नारी और पुरुष में भेद है। तुमने शादी
और मैंने जहर खाई। यही कहो कि जल्दी ही चेत गई मैं, वर्ना
नहीं और कौन सा दिन हमें देखना पड़ता।"

"नहीं चिन्ता....... ।"

"ओह, हमसे अब खड़ा नहीं रहा जाता।"

"हाँ जाओ, आराम करो पर चिन्ता तुमने मुझे माफ कर दिया न?"

"माफ कैसे! इतना मैं जानती हूं कि मैंने तुम्हें सच्चा प्रेम किया
तुमने भले ही धोखा दिया है। अब अपनी नई बहू को ऐसा
आ न देना। वर्ना वह तो मर ही जायगी। नारी का मूल्य आँकने
कोशिश न करना बल्कि पहचानना।"

जुगाई को यह शब्द बड़े प्रिय लगे पर कुछ चुभते से।

क्षण भर दोनों चुप रहे। चिन्ता ने कहा—"अब मैं जाती हूँ
भी लौट जाओ। हमें भूल जाना, यही अच्छा होगा।"

जुगाई कुछ न बोला। बगल से उसने एक पोटली निकाली। उसे
ला और चिन्ता की ओर बढ़ा दिया। हाथ में लेकर चिन्ता ने
ा यह वही दुपट्टा था जिसे वह खेत में भूली थी और जुगाई उसे
गया था।

मिनट भर उसे वह आँसू से गीली आँखों से देखती रही, फिर
।—

"ले जाओ इसे अपनी पत्नी को देना। हमारी यही भेंट है।"

इसके बाद उसकी आँखें जोरों से बरसने लगी। हाथ उसने जुगाई
ओर बढ़ाया। जुगाई ने दुपट्टा थाम लिया और चाहा कि एक
चिन्ता के हाथ को पुनः पकड़ ले। पर चिन्ता ने हाथ पीछे
लिया।

फिर चिन्ता लौट गई। जुगाई का सिर घूम गया सड़क पर
सिर थाम वह पटरी पर बैठ गया। सामने से एक राहगीर कुछ
चला जा रहा था—

"जल्दी पाँव बढ़ाना राही, हो जाय कहीं ना बेर।
जीवन शैय्या पर रोने वालों, कहीं टूट जाय ना टेर!"

उसे देखकर जुगाई को स्थिति का ज्ञान हुआ।

सिर घुमा कर उसने देखा पश्चिम में आग लगी थी।
आकाश लाल था। दिन के इस अन्तिम वेला की वह आग
अपने दिल में धधकती ज्वाला से अधिक तापमान नहीं लगी।

दिल दबा कर वह उठा। उसे लगा यह क्षण उसका अ
क्षण है। पर नहीं, यह तो उसके प्रथम प्रम की अन्तिम वेला
छाती पर हाथ दबाए वह उठा और एक ओर चल दिया।
की चादर उसके गले में झूल रही थी।